# INTERMEDIATE
# HINDI SELECTIONS
## Part II

# साहित्य-संकलन
## द्वितीय खण्ड

प्रथम संस्करण

कलकत्ता विश्वविद्यालय
१९५२

# सूची

# साहित्य-संकलन

[ द्वितीय खण्ड ]

## छायावादकी परिभाषा

आजसे बीस-पचीस वर्ष पूर्व युगकी उद्बुद्ध चेतनाने बाह्य अभिव्यक्तिसे निराश होकर जो आत्मबद्ध अन्तर्मुखी साधना आरम्भ की वह काव्य में छायावादके रूपमें अभिव्यक्त हुई। जिन परिस्थितियोंने हमारी कर्म-वृत्तिको अहिंसाकी ओर प्रेरित किया उन्हींने भाव-वृत्तिको छायावादकी ओर। उसके मूलमें स्थूलसे विमुख होकर सूक्ष्मके प्रति आग्रह था।

पिछले महासमरके उपरान्त योरॅपके जीवनमें एक निस्सार खोखलापन आगया था। जीवनके प्रति विश्वास ही नष्ट होगया था। परन्तु भारत में आर्थिक पराभवके होतेहुए भी जीवनमें एक स्पन्दन था। भारतकी उद्बुद्ध चेतना युद्धके बाद अनेक आशाएँ लगाये बैठी थी। उसमें स्वप्नोंकी चञ्चलता थी। वास्तवमें भारतकी आत्म-चेतनाका यह किशोर काल था जब अनेक इच्छा-अभिलाषाएँ उड़नेकेलिए पङ्ख फड़फड़ारही थीं। भविष्यकी रूप-रेखा नहीं बन पायी थी, परन्तु उसके प्रति मनमें इच्छा जगगयी थी। पश्चिमके स्वच्छन्द विचारोंके सम्पर्कसे राजनीतिक और सामाजिक बन्धनोंके प्रति असन्तोषकी भावना मधुर उभारके साथ उठरही थी, भलेही उनको तोड़नेका निश्चित विधान अभी मनमें नहीं आरहा था। राजनीतिमें ब्रिटिश साम्राज्यकी अचल सत्ता और समाजमें सुधारवादकी दृढ़ नैतिकता असन्तोष और विद्रोह की इन भावनाओंको बहिर्मुखी अभिव्यक्तिका अवसर नहीं देती थीं। निदान वे अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अवचेतनमें जाकर बैठरही थीं, और वहांसे क्षति-पूर्तिकेलिए छाया-चित्रोंकी सृष्टि कररही थीं। आशाके इन स्वप्नों और निराशाके इन छाया-चित्रोंकी काव्यगत समष्टि ही छायावाद कहलायी।

छायावादमें आरम्भसे ही जीवनकी सामान्य और निकट वास्तविकताके प्रति एक उपेक्षा: एक विमुखताका भाव मिलता है। नवीन चेतनासे उद्दीप्त कविके स्वप्न अपनी अभिव्यक्तिकेलिए चञ्चल होरहे थे, परन्तु वास्तविक जीवनमें उसकेलिए कोई सम्भावना नहीं थी, अतएव स्वभावत: ही उसकी वृत्ति निकट यथार्थ और स्थूलसे विमुख होकर सुदूर, रहस्यमय, और सूक्ष्मके प्रति आकृष्ट होरही थी। भावनाएँ कठोर वर्तमानसे कुण्ठित होकर स्वर्ण-अतीत आदर्श भविष्यमें तृप्ति खोजती थीं—ठोस वास्तवसे ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्नका संसार रचती थीं—कोलाहलके जीवन से भागकर प्रकृतिके चित्रित अञ्चलमें शरण लेती थीं—स्थूलसे सहमकर सूक्ष्मकी उपासना करती थीं। आजके आलोचक इसे पलायन कहकर तिरस्कृत करते हैं, परन्तु यह वास्तवको वायवी या अतीन्द्रिय रूप देना ही है—जो मूल रूपमें मानसिक कुण्ठाओंपर आश्रित होतेहुए भी प्रत्यक्ष रूपमें पलायन का रूप नहीं है। वास्तवपर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसको वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूप देनेकी यह प्रवृत्ति ही छायावादकी मूल-वृत्ति है। उसकी सभी अन्य प्रवृत्तियोंकी इसी अन्तर्मुखी वायवी वृत्तिके आधारपर व्याख्या की जासकती है।

### व्यक्तिवाद

यह अन्तर्मुखी प्रवृत्ति जिन विभिन्न रूपोंमें व्यक्त होती है उनमें सबसे मुख्य व्यक्तिवाद है। व्यक्तिवादके दो रूप हैं। एक, विषयपर विषयी की मनसाका आरोप अथवा वस्तुको व्यक्तिगत भावनाओंमें रँगकर देखना। दूसरा, समष्टिसे निरपेक्ष होकर व्यष्टिमें ही लीन रहना।

द्विवेदी युगकी कविता इतिवृत्तात्मक और वस्तुगत थी। उसकी प्रतिक्रियामें छायावादकी कविता भावात्मक एवं आत्मगत हुई। दूसरे उस कविताका विषय बहिरङ्ग सामाजिक जीवन था: द्विवेदी युगका कवि बहिर्मुख होकर कविता लिखता था। छायावादकी कविताका विषय अन्तरङ्ग व्यक्तिगत जीवन हुआ: छायावादका कवि आत्मलीन होकर कविता लिखने लगा। उसका यही व्यक्ति-भाव प्रसादमें आनन्दभाव, निरालामें अद्वैतवाद, पन्तमें आत्मरति और महादेवीमें परोक्षरतिके रूपमें प्रकट हुआ।

## शृङ्गारिकता

अन्तर्मुखी प्रवृत्तिकी दूसरी अभिव्यक्ति है शृङ्गारिकता। छायावादकी कविता प्रधानतः शृङ्गारिक है, क्योंकि उसका जन्म हुआ है व्यक्तिगत कुण्ठाओंसे और व्यक्तिगत कुण्ठाएँ प्रायः कामके चारोंओर केन्द्रित रहती हैं।

स्वच्छन्द विचारोंके आदानसे स्वतन्त्र प्रेमके प्रति समाजमें आकर्षण बढ़ रहा था, परन्तु सुधार-युगकी कठोर नैतिकतासे सहमकर वह अपनेमें ही कुण्ठित रहजाता था। समाजके चेतन मनपर नैतिक आतङ्क अभी इतना अधिक था कि इस प्रकारकी स्वच्छन्द भावनाएँ अभिव्यक्ति नहीं पासकती थीं। निदान वे अवचेतनमें उतरकर वहाँसे अप्रत्यक्ष रूपमें व्यक्त होती रहती थीं। और यह अप्रत्यक्ष रूप था नारीका अशरीरी सौन्दर्य अथवा अतीन्द्रिय शृंगार।

छायावादका यह अतीन्द्रिय शृंगार दो प्रकार व्यक्त होता है। एक तो प्रकृतिके प्रतीकों-द्वारा : प्रकृतिपर नारी-भावके आरोप द्वारा। दूसरे नारीके अतीन्द्रिय सौन्दर्य द्वारा अर्थात् उसके मन और आत्माके सौन्दर्य को प्रधानता देते हुए उसके शरीरके अमांसल चित्रण-द्वारा।

छायावादमें शृंगारके प्रति उपभोगका भाव न मिलकर, विस्मयका भाव मिलता है। इसलिए उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट और मांसल न होकर कल्पनामय या मनोमय है। छायावादका कवि प्रेमको शरीरकी भूख न समझकर एक रहस्यमयी चेतना समझता है। नारीके अङ्गोंके प्रति उसका आकर्षण नैतिक आतङ्कसे सहमकर जैसे एक अस्पष्ट कौतूहलमें परिणत होगया है। इसी कौतूहलने छायावादके कवि और नारी व्यक्तित्वके बीच अनेक रेशमी झिलमिल पर्दे डालदिये हैं ; और वास्तवमें छायावादके झिलमिल काव्यचित्रोंका मूल उद्गम ये ही झिलमिल पर्दे हैं। उसके वायवी रूप-रंगका वैभव इन्हींसे उत्कीर्ण होता है और इन्हींपर आश्रित होनेके कारण छायावाद की काव्य-सामग्रीके अधिकांश प्रतीक काम-प्रतीक हैं।

## प्रकृतिपर चेतनाका आरोप

छायावादमें प्रकृतिके चित्रोंकी प्रचुरता है। कुछ विद्वानोंकी तो यह धारणा है कि छायावादका प्राण-तत्त्व ही प्रकृतिका मानवीकरण, अर्थात् प्रकृतिपर मानवव्यक्तित्वका आरोप है।

यह सत्य है कि छायावादमें प्रकृतिको निर्जीव चित्राधार अथवा उद्दीपक वातावरण न मानकर ऐसी चेतन सत्ता माना है जो अनादि कालसे मानवके साथ स्पन्दनोंका आदान-प्रदान करतीरही है। परन्तु फिरभी प्रकृति पर मानव व्यक्तित्वका आरोप छायावादकी मूल प्रवृत्ति नहीं है, क्योंकि स्पष्टतः छायावाद प्रकृति-काव्य नहीं है। और इसका प्रमाण यह है कि छायावादमें प्रकृतिका. चित्रण नहीं है वरन् प्रकृतिके स्पर्शसे मनमें जो छायाचित्र उठें उनका चित्रण है।

जो प्रवृत्ति प्रकृतिपर मानव व्यक्तित्वका आरोपण करती है, वह कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं है, वह मनकी कुण्ठित वासना ही है जो अवचेतनमें पहुँचकर सूक्ष्म रूप धारण कर प्राकृतिक प्रतीकोंके द्वारा अपनेको व्यक्त करती है। निदान प्रकृतिका उपयोग यहाँ दो रूपोंमें हुआ है। एक कोलाहल-मय जीवनसे दूर शान्त स्निग्ध विश्राम-भूमिके रूपमें और दूसरे प्रतीक रूपमें। रूप, ऐश्वर्य और स्वच्छन्दता जो जीवनमें नहीं मिल सके वह प्रकृतिमें प्रचुर मात्रामें मिले, अतएव कविकी मनोकामनाएँ बार-बार उसीके मधुर अञ्चलमें खेलने लगीं और प्रकृतिके प्रति आकर्षण बढ़ जानेसे स्वभावतः उसीके प्रतीक भी अधिक रुचिकर और प्रेय हुए।

## मूल दर्शन

जैसा सुश्री महादेवी वर्माने कहा है, छायावादका मूलदर्शन सर्वात्मवाद है—प्रकृतिके अन्तरमें प्राण-चेतनाकी भावना करना सर्वात्मवादकी ही स्वीकृति है। उन्होंने वैदिक ऋचाओंसे समानान्तर उद्धरण देकर यह स्थापित किया है कि प्रकृतिमें स्पन्दित जीवन-चेतनाकी पहचान भारतीय कवि के लिए नवीन न होकर अत्यन्त प्राचीन है—सनातनसे चली आरही है।

छायावादमें समस्त जड़-चेतनको मानव-चेतनासे स्पन्दित मानकर अङ्कित कियागया है, और इस भावनाको यदि कोई दार्शनिक रूप दिया जायगा तो वह निश्चय ही सर्वात्मवाद होगा। परन्तु क्रमका भेद है। छायावादका कवि आरम्भसे ही सर्वात्मवादकी अनुभूतिसे प्रेरित नहीं हुआ है। उसकी प्रेरणा उसकी कुण्ठित वासनाओंमेंसे ही आयी है, सर्वात्मवादकी रहस्यानुभूतिसे नहीं, यह निर्विवाद है। इसे न मानना प्रत्यक्षका निषेध करना है। और इसका

प्रमाण यह है कि पल्लव, नीहार, परिमल, आँसू आदिकी मूलवर्ती वासना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तो अवश्य है परन्तु सर्वथा उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है।

आजके बुद्धिजीवी कविकेलिए वासनाको सूक्ष्मतर करना तो साधारणतः सम्भव है, परन्तु आध्यात्मिक अनुभूतिका होना उसकेलिए सहज सम्भव नहीं है, और यह स्वीकार करनेमें किसीको भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गत युद्धके बाद जिन कवियोंके हृदयोंसे छायावादकी कविता उद्भूत हुई उनपर किसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूतिका आरोप नहीं किया जासकता। इसके अतिरिक्त उस अवस्थामें तो कोई विशेष परिष्कृति भी सम्भव नहीं थी—वह उन कवियोंका तारुण्य था जब मनकी सहज भावनाएँ अभिव्यक्तिकेलिए आकुल होरही थीं। बादमें प्रसाद या महादेवी भारतीय अध्यात्म-दर्शनके सहारे, अथवा पन्त देश-विदेशके भौतिक सर्वहितवादी दर्शनोंके आधारपर, उसे परिशुद्ध एवं संस्कृत भलेही करपाये हों, परन्तु आरम्भसे ही कोई दिव्य प्रेरणा उन्हें थी यह मानना असत्य होगा।

अतएव प्रकृतिपर मानवताका आरोप कम-से-कम आरम्भम तो निश्चय ही अनुभूतिका तत्त्व न होकर अभिव्यक्तिका प्रकार था। शृंगार और स्वच्छन्दताकी भावनाएँ जिन्हें परिस्थितिके अनुरोधसे प्रकृत रूपमें अभिव्यक्त करना सम्भव नहीं था, प्रकृतिके रूपकोंसे अन्योक्ति आदिके द्वारा व्यक्त होती थी। बस इसके अतिरिक्त उपर्युक्त प्रवृत्तिकी कोई भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं। सर्वात्मवादका बुद्धिद्वारा ग्रहण तो सहज सम्भव है परन्तु उसकी अनुभूतिकेलिए उस समय छायावादके किसी भी कविको चैलेञ्ज किया जासकता था। उस समय स्वच्छन्द छायानुभूतियोंसे छायावादका निर्माण होरहा था, जो एक विशिष्ट परिस्थितिमें विशिष्ट संस्कारके कवियोंकी जीवनके प्रति सहज प्रतिक्रिया थी, प्रगतिवादकी तरह किसी ठोस वज़नी बौद्धिक जीवन-दर्शनसे मनको टकरा-टकराकर प्रेरणा नहीं ली जारही थी।

यही बात रहस्यानुभूतिके विषयमें कही जासकती है। बहिरङ्ग-जीवनसे सिमटकर जब कविकी चेतनाने अन्तरङ्गमें प्रवेश किया तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासाएँ —जीवन और मरण सम्बन्धी, प्रकृति और पुरुष सम्बन्धी, आत्मा और विश्वात्मा सम्बन्धी—काव्यमें आजाना सम्भव ही था; और वे आयीं। कुछ आध्यात्मिक

क्षण तो प्रत्येक भावुकके जीवनमें आते ही हैं। अतएव छायावादकी रहस्योक्तियाँ एक प्रकारसे जिज्ञासाएँ ही हैं। वे धार्मिक साधनापर आश्रित न होकर कहीं भावना, कहीं चिंतन और कहीं केवल मनकी छलनापर ही आश्रित हैं।

छायावादके ये ही मूल तन्तु हैं। इन्हींमें अभिन्न रूपसे गुँथाहुआ आपको विषादका नीला तन्तु भी मिलेगा जो असन्तोष और कुण्ठाका परिणाम है। परन्तु यह विषाद सन्ध्याकी कालिमा न होकर प्रत्यूषकी चित्रित नीहारिका है। इसमें घुमड़न है, पराजय नहीं। नीरजाके विषाद और निशा-निमन्त्रणके विषादकी तुलना मेरे आशयको स्पष्ट करदेगी। इसका कारण यह है कि छायावादकी दुनिया अननुभूत दुनिया थी। बच्चनके समयतक आकर वह अधिक जीवन-गत (अनुभूत) होचुकी थी। अतः छायावादकी निराशा भी अननुभूत होनेके कारण श्रान्त और जर्जर नहीं होगई थी ; वह स्पन्दित और स्फूर्त थी। छाया-वादके चिर-उपहसित पीड़ा-प्रेमका यही व्याख्यान है।

## भ्रान्तियाँ

छायावादके विषयमें तीन प्रकारकी भ्रांतियाँ हैं।

पहला भ्रम उन लोगोंने फैलाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं करपाते। आरम्भमें छायावादका यही दुर्भाग्य रहा। उस समयके आलोचक इसी भ्रमका पोषण करतेहुए उसे कोसते रहे।

यद्यपि आज यह भ्रम प्रायः निर्मूल होगया है तोभी छायावादके कतिपय कवि और समर्थक छायावादके सुकुमार शरीरपरसे आध्यात्मिक चिंतनका मृगचर्म उतारनेको तय्यार नहीं हैं। रामकुमारजी आज भी कबीर के योगकी शब्दावलीमें अपने काव्यका व्याख्यान करते हैं। महादेवीजी की कविताके उपासक अब भी प्रकृति और पुरुष के रूपकोंमें उलझे बिना उसका महत्त्व समझनेमें असमर्थ हैं। यहाँतक कि स्वयं महादेवीजीने भी छायावादके ऊपर सर्वात्मवादका भारी बोझ लाददिया है।

इसके विरोधमें, जैसा मैंने अभी कहा, एक प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि छाया-वाद एक बौद्धिक युगकी सृष्टि है। उसका जन्म साधनासे—यहाँतक कि अखण्ड आध्यात्मिक विश्वाससे भी—नहीं हुआ। अतएव उसके रूपकों और प्रतीकोंको

यथातथ्य मानकर उसपर रहस्य-साधना अथवा रहस्यानुभूतिका आरोप करना अनर्थ करना है, भ्रांतियोंका पोषण करना है।

दूसरी भ्रान्ति उन आलोचकोंकी फैलाई हुई है जो मूल-वर्तिनी विशिष्ट परिस्थितियोंका अध्ययन न करसकनेके कारण—और उन अपराधियोंमें मैं भी हूँ—केवल बाह्य साम्यके आधारपर छायावादको योरॅपके रोमैंटिक काव्य सम्प्रदायसे अभिन्न मानकर चले हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि छायावाद मूलतः रोमानी कविता है, और दोनोंकी परिस्थितियोंमें भी जागरण और कुण्ठाका मिश्रण है। परन्तु फिरभी यह कैसे भूला जासकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहाँ छायावादके पीछे असफल सत्याग्रह था वहाँ रोमैंटिक योरॅपके पीछे फ्रान्सका सफल विद्रोह था जिसमें जनताकी विजयिनी सत्ताने समस्त जाग्रत देशोंमें एक नवीन आत्म-विश्वासकी लहर दौड़ादी थी। फलस्वरूप वहाँ के रोमानी काव्यका आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था, उसकी दुनिया अधिक मूर्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उसकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावादकी अपेक्षा वह निश्चयही कम अन्तर्मुखी एवं वायवी था।

तीसरे भ्रमको जन्म दिया है आचार्य शुक्लने, जो छायावादको शैलीका एक तत्वमात्र मानते थे। उनका मत है कि विदेशके अभिव्यञ्जनावाद, प्रतीकवाद आदिकी भाँति छायावाद शैलीका एक प्रकार-मात्र है।

इस भ्रमका कारण है शुक्लजीकी वस्तु-सीमित दृष्टि जो वस्तु और अभिव्यंजनामें निश्चित अन्तर मानकर चलती थी। वास्तवमें उन दो-चार इने-गिने सम्प्रदायोंको छोड़कर जो जानबूझकर शैली-गत प्रयोगोंको लेकर चले हैं कोई भी काव्यधारा केवल अभिव्यञ्जनाका प्रकार नहीं होसकती। जिन अभिव्यञ्जनावाद और प्रतीकवादका उन्होंने उल्लेख किया है वे भी शुद्ध टेकनीकके प्रयोग नहीं हैं: उनके पीछे भी एक विशिष्ट अनुकूल भाव-धारा और विचारधारा है। प्रत्येक सच्ची काव्यधाराकेलिए अनुभूतिकी अन्तःप्रेरणा अनिवार्य्य है और जहाँ अनुभूतिकी अन्तःप्रेरणा है वहाँ काव्य टेकनीक-मात्र का प्रयोग कैसे होसकता है? छायावाद निश्चय ही शुद्ध कविता है। उसके पीछे अनुभूतिकी अन्तःप्रेरणा

असन्दिग्ध है। उसकी अभिव्यक्तिकी विशेषता भाव-पद्धतिकी विशिष्टताके ही कारण है।

### निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि छायावाद एक विशेष प्रकारकी भाव-पद्धति है : जीवनके प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टिकोण है।

जिस प्रकार भक्ति-काव्य जीवनके प्रति एक प्रकारका भावात्मक दृष्टिकोण था और रीति-काव्य एक दूसरे प्रकारका, उसी प्रकार छायावाद भी एक विशेष प्रकारका भावात्मक दृष्टिकोण है।

इस दृष्टिकोणका आधेय नव-जीवनके स्वप्नों और कुण्ठाओंके सम्मिश्रणसे बना है, रूप-विधान अन्तर्मुखी तथा वायवी है और अभिव्यक्ति है प्रायः प्रकृतिके प्रतीकों द्वारा। विचार-पद्धति उसकी तत्त्वतः सर्वात्मवाद मानी जासकती है। पर वहाँसे इसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली।

यह तो स्पष्ट ही है कि छायावादका काव्य प्रथम श्रेणीका विश्व-काव्य नहीं है—कुण्ठाकी प्रेरणा प्रथम श्रेणीके काव्यको जन्म नहीं देसकती।

प्रथम श्रेणीके काव्यकी सृष्टि तो पारदर्शी कविके द्वारा ही सम्भव है, जिसके-लिए यह जीवन और जगत् अनुभूति हों और जो सत्यको प्राप्त करचुका हो। परन्तु यह सौभाग्य संसारमें कितनोंको प्राप्त है? इसके अतिरिक्त, संसारका अधिकांश काव्य कुण्ठा-जात ही तो है। उसकी तीव्रता, उसके वैभव-विलासका जन्म प्रायः कुण्ठासे ही तो होता है।

इस सीमाको स्वीकार करलेनेके उपरान्त छायावादको अधिक-से-अधिक गौरव दिया जासकता है। और सच ही, जिस कविताने एक नवीन सौन्दर्य-चेतना जगाकर एक बृहत् समाजकी अभिरुचिका परिष्कार किया; जिसने उसकी वस्तु-मात्रपर अटक जानेवाली दृष्टिपर धार रखकर उसको इतना नुकीला बनादिया कि हृदयके गहनतम गह्वरोंमें प्रवेशकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और तरल-से-तरल भाव-वीचियोंको पकड़ सके; जिसने जीवनकी कुण्ठाओंको अनन्त रङ्गवाले स्वप्नोंमें गुदगुदा दिया; जिसने भाषाको नवीन हाव-भाव, नवीन अश्रु-हास और नवीन विभ्रम-कटाक्ष प्रदान किये; जिसने हमारी कलाको असंख्य अनमोल छाया-

चित्रोंसे जगमग करदिया ; और अन्त में जिसने कामायनीका समृद्ध-रूपक, पल्लव और युगान्तकी कला, नीरजा के अश्रु-गीले गीत, परिमल और अनामिकाकी अम्बर-चुम्बी उड़ान दी—उस कविताका गौरव अक्षय है ! उसकी समृद्धिकी समता हिन्दीका केवल भक्ति-काव्य ही करसकता है।

—श्रीनगेन्द्र

---

## साहित्यके मूल्य

साधारण बोलचालकी भाषामें मूल्य शब्दका सम्बन्ध मोल-भाव या क्रय-विक्रयकी मनोवृत्तिसे है। उस शब्दके सुनते ही वर्तुलाकार रजतखण्डोंका जिनका प्रत्यक्ष दर्शन आजकल कुछ दुर्लभ होगया है या उनके प्रतीक-स्वरूप पत्र-मुद्राओंका आकर्षक रूप सामने आजाता है। अङ्गरेज़ी भाषामें 'वैल्यू' शब्दका अर्थ हिन्दीकी अपेक्षा अधिक व्यापक होगया है किन्तु वहाँ भी वह आर्थिक व्यञ्जनासे निर्मुक्त नहीं हुआ है, और शायद इसी कारण वे विशुद्ध कलावादी जो कलाको सब मूल्योंसे परे मानते हैं साहित्यके साथ मूल्य शब्द जुड़ा हुआ देखकर चौंक उठते हैं और कभी-कभी प्रभु ईसा-मसीहके-से आवेशमें आकर कहने लगते हैं कि तुम लोगों ने साहित्य-जैसे पावन देव-मन्दिरको क्रय-विक्रयकी हाट बनाकर रक्खा है। शायद ऐसी ही आपत्तियोंसे बचनेकेलिए भारतीय समीक्षा-शास्त्रमें 'प्रयोजन' शब्दका व्यवहार हुआ है। प्रयोजन शब्द यद्यपि पर्याप्त रूपेण विस्तृत है और आर्थिक व्यञ्जनासे मुक्त भी है तथापि वह मूल्यका ही आन्तरिक रूप है। मूल्य वस्तुके निर्माणके पश्चात् मिलता है। निर्माणसे पूर्व वही लक्ष्य रूपसे प्रयोजन कहलाता है। कलावादी तो मूल्य और प्रयोजन दोनोंके ही विरोधी हैं।

ऐसे कलावादियोंके क्षोभकी निवृत्तिके अर्थ हमको मूल्य शब्दके अर्थपर विचार करलेना आवश्यक होजाता है। साधारणतया हम उसी वस्तुको मूल्यवान् कहते

हैं जो या तो सीधे तौरसे हमारे उपयोगमें आसके या हमारेलिए उपयोगकी वस्तुओंको जुटा सके या भविष्यमें जुटा सकनेकी सामर्थ्य रक्खे। धनको मूल्यका प्रमुख रूप इसीलिए माना है कि उसके द्वारा हमको बहुत-सी उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त होसकती हैं। हम उपयोगी उसी वस्तुको कहते हैं जो हमारी किसी आवश्यकताकी पूर्ति करसके। कूड़ा-कर्कट जब हमारी किसी आवश्यकताकी पूर्ति नहीं करता तो अनुपयोगी समझा जाकर फेंक दिया जाता है; किन्तु वही जब खाद बनकर हमारे उद्यानके फूलों या गोभी-टमाटरके उत्पादन तथा उनकी पुष्टि और आकार-वृद्धिमें सहायक होता है तब हमारी एक आवश्यकताकी पूर्तिके कारण उपयोगी और मूल्यवान् बनजाता है। आवश्यकताएँ केवल भौतिक जगत्में ही सीमित नहीं रहतीं, वे मानसिक और आध्यात्मिक भी होसकती हैं। जो वस्तुएँ इन आवश्यकताओंकी पूर्त्ति करती हैं वे उपयोगी और मूल्यवान् कहलाती हैं।

कलावादियोंकी कला भी जो उपयोगिताकी अपावन गन्धसे परे समझी जाती है अपनी सौन्दर्य-जन्य प्रसन्नता देनेकी शक्ति और क्षमताके कारण उपयोगी कही जासकती है। संगीत भी क्लान्त मनको विश्रान्ति देनके कारण उपयोगिताके क्षत्रके बाहर नहीं। देश-सेवक अपने आदर्शोंकी पूर्तिके लिए प्राणोंकी भी आहुति देनेमें आना-कानी नहीं करता; उसकेलिए वे आदर्श ही मूल्यवान् हैं, क्योंकि उनकी पूर्त्तिमें उसकी विस्तृत आत्माको परितुष्टि होती है। एक धार्मिक व्यक्ति घर-बारकी चिन्ताओंको छोड़कर हरिभजनमें मग्न रहता है, क्योंकि वह उसे अपने प्रियतमसे मिलनेका साधन समझता है। राजरानी मीराने अपने प्रभु गिरिधर-नागरकेलिए राजवैभव, लोक-लाज और कुल-मर्यादाको तिलाञ्जलि देना ही श्रेयस्कर और मूल्यवान् समझा था, क्योंकि उससे उसके आध्यात्मिक भावकी तुष्टि होती थी। कोई श्रद्धालु भक्त मासिक 'कल्याण' केलिए डाकियेकी अधीर प्रतीक्षा करते हैं, और कोई व्यसनप्रिय-सज्जन टाइम्स ऑव इण्डियाके क्रॉस वर्ड पज़ल्सके लिए न्यूज़-एजेण्टकी दूकानके दिनमें दस बार चक्कर लगाते हैं क्योंकि उन वस्तुओं द्वारा उनकी विभिन्न आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है।

अब प्रश्न यह होता है कि ये मूल्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी रुचि-वैचित्र्यके कारण सापेक्षित हैं या निरपेक्ष। मूल्योंके सम्बन्धमें भी कुछ सापेक्षता अवश्य

है किन्तु मनुष्यका ज़रा निकटतर अध्ययन करनेसे इन आवश्यकताओंके मोटे-मोटे प्रकारोंका पता चल जायगा।

मनुष्य भौतिक पदार्थोंकी भाँति जड़ नियमोंके बन्धनमें रहता है। यद्यपि उसने अपनी वैज्ञानिक बुद्धिके बलपर उन नियमोंपर बहुत अंशोंमें विजय प्राप्त करली है तथापि वह उनकी नितान्त अवहेलना नहीं करसकता। मानवी बुद्धिकी चरम सफलताके द्योतक वायुयान भी अचल होकर गगनमण्डलमें स्थित नहीं रह सकते। शीतोष्ण और क्षुत्पिपासा आदि आवश्यकताओंसे भी वह अपना पल्ला नहीं छुड़ा सका। मनुष्य सत् होनेके नाते मिट्टीके ढेलेकी भाँति प्राकृतिक नियमोंमें बँधा हुआ है और सजीव होनके नाते आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी आवश्यकताओंमें पशुओं का समानधर्मी है। अन्तर केवल इतना ही है कि मनुष्यकी इन सब बातों में कुछ मानसिक पक्ष भी लगा रहता है और इस कारण उसका आनन्द भी बढ़जाता है। पेट तो होटलमें भी भरजाता है, किन्तु प्रेमसे परोसे हुए भोजनमें कुछ सरसता, तुष्टि और शायद पुष्टि भी अधिक बढ़जाती है। इसी कारण परम विरक्त गोस्वामी तुलसीदासजीको विनय-पत्रिकामें राम-नामके सम्बन्धमें "सुखद अपनो सो घरु है" कहना पड़ता था। यहाँतक तो मनुष्यके अन्नमय और प्राणमय कोषोंकी बात रही, उसका मनोमय कोष इन दोनोंसे ऊँचा है। इसका सम्बन्ध उसके मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारसे है। उसकी एषणाएँ, अभिलाषाएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ सब इसीसे सम्बन्धित हैं। इस प्रकार उसकी भौतिक और प्राण-सम्बन्धी आवश्यकताओंके अतिरिक्त उसकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ भी हैं। यही आवश्यकताएँ उसके व्यक्तित्वकी पोषिका बनजाती हैं। वे उसकी अहंभावनाको तुष्ट करती हैं। किन्तु मनुष्यमें जहाँ व्यक्तित्वका पार्थक्य है वहाँ उसकी आत्मा उसको व्यक्तित्वकी तुच्छ सीमाओंसे ऊपर उठाती है। उसकी सामाजिकता इसीका फल है। इसीके कारण वह आचार और नीतिके घेरेमें आता है, यही प्रवृत्ति अनेकतामें एकता स्थापित करती है। योरूपके लोगों ने इस एकताको सामाजिक प्रवृत्तिका व्यावहारिक आधार माना है। भारतीय मनीषियोंने इस एकताकी प्रवृत्तिको आध्यात्मिक आधार माना है और उसका सम्बन्ध विज्ञानमय कोषसे स्थापित किया है। उसी आधार-पर भारतीय एकात्मवादकी प्रतिष्ठा हुई। कुछ पाश्चात्य दार्शनिकोंने भी

'सुपर ईगो' अर्थात् पर-आत्मा माना है। आनन्दमय कोष इससे भी ऊँचा है। उसमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटीकी एकता होजाती है। कला अपने चरम विकासमें इसी ध्येयकी ओर अग्रसर होती है। इसीलिए रसको काव्यकी आत्मा माना है और उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है।

आप शायद इस ऊब दिलानेवाले मनुष्यके विश्लेषणको सुननेसे थक गये होंगे और कहेंगे कि साहित्यके परिषद्में यह बेसुरा दार्शनिक राग क्यों छेड़ा गया। साहित्य मुखरित जीवन है; जीवनका ही आत्मचिन्तन है। जीवनकी आवश्यकताओंको भूलकर हम साहित्यका चिन्तन नहीं करसकते। हमारे यहाँका साहित्य शब्द 'लिटरेचर' से कुछ अधिक व्यञ्जना रखता है। साहित्यमें 'सहित' : 'इकट्ठे' होने वा समन्वयका भाव लगा हुआ है—"सह एव सहितं तस्य भावः साहित्यं।" दूसरी व्युत्पत्ति है "हितेन सह सहितं तस्य भावः साहित्यं।" साहित्यकी इन्हीं दोनों व्युत्पत्तियोंसे हमको इन मूल्यों के प्रश्नको हल करनेमें सहायता मिलेगी। यह बात तो सभी मानेंगे कि जिसका जीवनमें मूल्य है उसका साहित्यमें भी मूल्य है। साहित्यके मूल्य जीवनके मूल्योंसे भिन्न नहीं। अब प्रश्न यह होता है कि इनमें कोई सर्वप्रधान है कि जिसमें हाथीके पैरके समान सबके पैर आजायें अथवा सब एक-सा महत्त्व रखते हैं और देवताओंके समान कोई छोटा-बड़ा नहीं? यह प्रश्न टेढ़ा है। सब लोग अपने-अपने पक्षको महत्ता देकर अपनी-अपनी ढपलीपर अपना-अपना राग अलापते हैं। 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' की बात इस समस्याको और भी जटिल बना देती है। सब मनुष्योंको एक लाठीसे हम हाँक भी नहीं सकते। कुछ लोग तो प्रगतिवादियोंके साथ यह कहेंगे कि 'भूखे भजन न होय गुपाला' और कुछ बिहारीके साथ कहेंगे "तंत्रीनाद कवित्त रस सरस राग रतिरंग, अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अङ्ग।" मनोविज्ञानने भी 'इन्ट्रोवर्ट' (अन्तर्मुखी) और 'एक्स्ट्रोवर्ट' (बहिर्मुखी) दो प्रकारके टाइप माने हैं। छायावादी शायद इन्ट्रोवर्ट कहलायेंगे और प्रगतिवादी एक्स्ट्रोवर्टके अन्तर्गत आते हैं। ये दोनों टाइप किसी अंशमें एक-दूसरेको प्रभावित कर सकते हैं, परिवर्तित नहीं कर सकते। व्यक्तियोंकी व्यक्ति-सम्बन्धी और टाइप-सम्बन्धी विशेषताओंको ध्यानमें रखकर अब यह ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य केलिए भौतिक (प्राण-सम्बन्धी आवश्यकताएँ भी इसमें शामिल हैं) भावात्मक, बौद्धिक, सामाजिक

(इनमें हम नैतिक आवश्यकताओंको भी शामिल करते हैं) और आध्यात्मिक आवश्यकताओंमें किसी एकको प्राधान्य देना चाहिए या सबको। हमारे यहाँ जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके चार पुरुषार्थ मानेगये हैं उनका भी इन्हीं मूल्योंसे सम्बन्ध है। धर्ममें सामाजिक और नैतिक मूल्य आ जाते हैं, अर्थका सम्बन्ध भौतिक मूल्योंसे है, काममें सौन्दर्य और कला-सम्बन्धी सभी मूल्य सम्मिलित हैं, और मोक्षमें आध्यात्मिक मूल्य आजाते हैं। यद्यपि ये सभी मूल्य अपना महत्त्व रखते हैं तथापि इनमेंसे किसी एककी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मोक्षको चाहे हम थोड़ी देरकेलिए बालाए-ताक रखदें, किन्तु इन तीनको हम नहीं छोड़ सकते और करीब-करीब तीनोंका बराबर महत्त्व है। किसी एकको भी प्राधान्य देना जीवनका सन्तुलन बिगाड़ना होगा। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी ने अपने भाई भरतजीको प्रश्नों द्वारा नीतिका उपदेश देते हुए पूछा था कि कहीं अर्थ से धर्म या धर्मसे अर्थमें तो बाधा नहीं पड़ती अथवा कामसे धर्म और अर्थमें बाधा तो नहीं पड़ती ?

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने भरतजीको अपने जीवनमें धर्म, अर्थ, काम तीनों ही के समन्वयका उपदेश दिया था। यही समन्वय-दृष्टि भारतीय दृष्टि है। हमारे यहाँके काव्य-समीक्षकोंने आनन्दमें सब मूल्योंका समन्वय किया है। वे लोग यश और अर्थके भौतिक उद्देश्योंसे चलकर पर-निर्वृत्तिके आध्यात्मिक लक्ष्य तक गये हैं।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

भामहने भी काव्यको धर्म, अर्थ, काम, मोक्षका साधक और कला में नैपुण्य उत्पन्न करनेवाला तथा प्रीति और कीर्तिकी प्राप्ति करानेवाला बतलाया है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥

आध्यात्मिक मूल्य भौतिक मूल्योंसे ऊँचे अवश्य हैं, किंतु उनकी उपेक्षा नहीं करते। भौतिक सोपानों द्वारा ही आध्यात्मिककी प्राप्ति होती है।

साहित्यका मूल्यांकन भी हम इसी व्यापक दृष्टिकोणसे कर सकते हैं। जो साहित्य हमको इन धर्म (नीति, आचार और आध्यात्मिक मान), अर्थ (भौतिक और शारीरिक मान) और काम (एषणाएँ, महत्वाकांक्षाएँ कला और सौन्दर्य-सम्बन्धी मान) इन तीनों प्रकारके मानोंके अथवा मूल्योंके समन्वयकी ओर लेजाता है, वही सत्साहित्य है। साहित्यका अर्थ भी सहित का भाव है जो समन्वय-दृष्टि-प्रधान है। आचार्य कुंतकने शब्दके शब्दान्तर के साथ और वाच्यके वाच्यांतरके साथ मेलको ही साहित्य कहा है।—

"सहितौ इत्यत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यं परस्परास्पर्द्धित्वलक्षणमेव विवक्षितम्।"

कुंतकने शब्द और अर्थ दोनोंको ही महत्त्व दिया है। यथा—

शब्दार्थौ संहितौ यत्र कविव्यापारशालिनौ॥
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणौ।

इसलिए वक्रोक्तिवादका कोरे अभिव्यंजनावादसे तादात्म्य करना उचित नहीं ठहरता। साहित्यकी दूसरी व्युत्पत्ति है, "हिते न सह सहितं तस्य भावः साहित्यं।" साहित्यके दोनों ही अर्थ हमको समन्वयभाव और लोकमंगलकी ओर लेजाते हैं। जो साहित्य मनुष्य-जीवनमें उसकी सभी वृत्तियों और जीवनके सभी स्तरोंमें साम्यकी ओर लेजाता है, वही हमारेलिए मान्य होगा। इस साहित्यको चाहे प्रगतिवाद कहें, चाहे छायावाद और चाहे समन्वयवाद।

प्रगतिवादने आर्थिक मूल्योंको प्रधानता दी है। वह अन्य मूल्यों की यदि उपेक्षा करता है तो वह एकाङ्गी ठहरकर इस आदर्शसे गिरजाता है। छायावाद मनुष्यकी कला-सम्बन्धी प्रवृत्तियोंका पोषण करता है, वह शब्द-सौन्दर्यपर भी अधिक बल देता है। किन्तु वह भी आर्थिक मूल्योंकी उपेक्षा नहीं करसकता। आजकलके छायावादी प्रायः सभी इन आर्थिक मूल्योंकी ओर सचेत होते जाते हैं। कला-सम्बन्धी मूल्य अथवा नगेंद्र जीके शब्दोंमें छायावादका वायवी सौन्दर्य मूर्त-सौन्दर्यको पूर्णता प्रदान करता है। स्वयं सौन्दर्य भी एक साम्य है, जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही का सम्मिश्रण रहता है। सौन्दर्यका आधार

भौतिक है, किन्तु बिना मानसिक रुचि और आकर्षणके वह अपनी पूर्णताको नहीं प्राप्त होता है। रवीन्द्र बाबूने इसपर ही कुछ कहा है—

"ओ वोमन, दाउ आर्ट हाफ़ ड्रीम ऐण्ड हाफ़ रीयैलिटी।"

सुमनके दिव्य सौन्दर्यकेलिए उसका परागमय स्थूल शरीर ही नहीं, वरन् कटीली डालें और मिट्टीके ढेले भी आवश्यक हैं। किन्तु हम मिट्टीके ढेलेपर ही सन्तोष नहीं करसकते। सुमनका सौरभ मिट्टीके ढेलेकी पूर्णता है। वही पृथ्वीका गन्धवती होना प्रमाणित करता है। किन्तु हमको यह भी मानना होगा कि फूलके साथ हाँड़ी जिसमें दाल पकती है और घड़ा जिसमें पानी ठंडा होता है, मिट्टीकी पूर्णताओंमेंसे हैं। इसके साथ हम यह भी नहीं भूल सकते कि सारी मिट्टी घड़े और कुल्हड़ बनानेमें ही खर्च होजाती है, उसके खिलौने भी बनते हैं और उससे सुमन सौरभ भी उत्पन्न होता है।

उपसंहार रूपसे एक बार में फिर दुहराना चाहता हूँ कि जीवनके मूल्य साहित्यके मूल्य हैं। जो साहित्य जीवनको पूर्ण बनाये, वही सत्साहित्य है। जीवनकी पूर्णताका अर्थ है भौतिक, मानसिक, सामाजिक, और आध्यात्मिक (जिसमें धर्म और कला दोनों ही सम्मिलित हैं) मूल्योंकी सम्पन्नतापूर्ण समन्विति। हम वैविध्य-शून्य अभावोंकी समन्विति नहीं चाहते। हम चाहते हैं वीणाके स्वरों अथवा इन्द्रधनुषके रंगोंका-सा विविधतापूर्ण सम्पन्न साम्य। सत्साहित्य जीवनके व्यापक क्षेत्रमें, विविधतामें एकता स्थापित करनेवाले विकासवादके चरम लक्ष्यको चरितार्थ करता है। मनुष्य केंचुएसे तथा उससे भी उच्च श्रेणीके जीवधारियोंसे अधिक विकसित इसीलिए कहा जाता है कि उसके अंगोंमें कार्योंके वैविध्यके साथ पूर्ण अन्विति है। सत्साहित्यका क्षेत्र न किसी वर्ग-विशेषमें सीमित होगा और न उसमें किसीका बहिष्कार होगा। जहाँ उसको मानवताके दर्शन होंगे, उसकी वह उपासना करेगा। उसकेलिए सुन्दर और उपयोगीमें भी भेद न होगा। उसकेलिए उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों एकही वस्तुके भीतरी और बाहरी रूप होंगे। बाहर और भीतरके साम्यमें ही सौन्दर्यकी पूर्णता है और वही रस भी है। इस दृष्टिसे साहित्यके प्राचीन मान अलंकार, ध्वनि आदि भी निरर्थक नहीं होजावेंगे। वे सौन्दर्यके ढाँचोंके रूपमें वर्तमान रहेंगे। कलाकार को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बिना वस्तुके ढाँचे खोखले

और निर्मूल्य होंगे और बिना ढाँचोंके सामग्री बिखरी रहेगी और उसमें अन्विति नहीं आसकेगी। काव्यकी आत्मा रस ही रहेगा, किन्तु उसका स्रोत रूढ़िवादका अन्धकूप न होगा, वरन् जीवनका विशाल और गतिशील निर्झर होगा। भविष्यका कलाकार जीवनके भौतिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक और आध्यात्मिक श्रेयोंको कलाके सौन्दर्यपूर्ण ढाँचोंमें ढालकर प्रेय बनावेगा। वह सौन्दर्यको केवल वायवी न रखकर उसको पुष्ट और मांसल बनावेगा और अचल तथा स्थूलमें भी वायवी सौन्दर्यकी प्राण-प्रतिष्ठा करेगा।

--श्रीगुलाब राय

---

## समाज और साहित्य

### सामाजिक स्थिति और साहित्य

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिये जो भावसामग्री निकालकर समाज को सौंपता है उसी के संचित भांडार का नाम साहित्य है। मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है। यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली भांति विदित होता है कि साहित्य ने मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है।

### साहित्य और समाज

पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-संबंधी शक्ति पोप के हाथ में आ गई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने वर्तमान काल का सूत्रपात किया और युरोपीय मस्तिष्क स्वतंत्रता देवी की आराधना में रत हुआ तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म के विरुद्ध

विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि युरोपीय कार्यक्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्यक्रांति का सूत्रपात रचूसो और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेज़िनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहां की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिन्ता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। वृद्धि हुई, नए विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्धधर्म और आर्यसमाज का प्राबल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इस्लाम और हिंदू धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए तब दोनों में से कूप-मंडूकता का भाव निकालने के लिये कबीर नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि मानव जीवन की सामाजिक गति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

## साहित्य की उपयोगिता

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट-फेर हुए हैं, जिसने यूरोप के गौरव को बढ़ाया जो मनुष्य-समाज का हितविधायक मित्र है वह क्या हमें राष्ट्रनिर्माण में सहायता नहीं दे सकता? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर को है, तब तो हमारा उसका प्रकृति-संयोग हो ही नहीं सकता।

अब तक जो वह हमारा सहायक नहीं हो सका है, इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस विस्तृत देश की स्थिति एकांत रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक विभव का वारापार नहीं है। इन्ही कारणों से इस में संघशक्ति का संचार जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सका है और यह अब तक आलसी और सुखलोलुप बना हुआ है। परंतु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मूल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम की सामर्थ्य पर निर्भर है। यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के

संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित और प्रतिक्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

## साहित्य की कसौटी

अब विचारणीय यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेषकर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करनेवाला, संजीवनी शक्ति का संचार करनेवाला, चरित्र को सुन्दर सांचे में ढालनेवाला, तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करनेवाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको सब लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिंदी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं, और यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा जिससे जन-समुदाय की आंखें खुलेंगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

## हिंदी और राष्ट्रीय साहित्य

पर क्या यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि इस बात की क्या आवश्यकता है कि ऐसे साहित्य के उत्पादन का उद्योग हिंदी ही में किया जाय? क्या अन्य भारतीय देश-भाषाओं में इसका सूत्रपात नहीं हो चुका है और क्या उनसे हमारा काम न चलेगा? मेरा दृढ़ विश्वास है कि समस्त भारतीय भाषाओं में हिंदी ही ऐसी है जो मातृभूमि की सेवा के लिये सर्वथा उपयुक्त है और जिससे सबसे अधिक लाभ की आशा की जा सकती है। गुजराती, मराठी, बंगला आदि भाषाओं का आधुनिक साहित्य हमारी हिंदी के वर्त्तमान साहित्य से कई अंशों में भरा पूरा है, पर उनके प्राचीन साहित्य की तुलना हिंदी के पुराने साहित्य-भांडार से नहीं हो सकती, इस कारण उन्हे परंपरा की प्राचीनता का गौरव प्राप्त नहीं है। जैसे

किसी जाति के अभ्युत्थान में उसके प्राचीन गौरवान्वित इतिहास का प्रभाव अतुलनीय है वैसे ही भाषाओं को क्षमता प्रदान करने में उसकी प्राचीन परंपरा का बल भी अत्यंत प्रयोजनीय है। किसी लेखक ने बहुत ठीक कहा है कि इतिहास का मूल्य स्वतंत्रता से भी बढ़कर है। स्वतंत्रता खोकर भी हमें इतिहास की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि इतिहास के द्वारा हम फिर स्वतंत्रता पा सकते हैं। पर स्वतंत्रता के द्वारा खोए हुए इतिहास को हम फिर नहीं प्राप्त कर सकते। जिन जातियों का प्राचीन इतिहास नहीं है, जिन्हे अपनी प्राचीनता और पूर्व गौरव का अभिमान नहीं है वे या तो शीघ्र ही निर्मल हो जायंगी अथवा अपनी जातीयता के सारे लक्षण खो बैठेंगी। पर जिनका इतिहास वर्त्तमान है, जिनको अपने पूर्वजों का गौरव है, जो अपनी जननी जन्मभूमि के नाम पर आंसू बहाती हैं वे पददलित होकर भी जीवित रह सकती हैं और फिर कभी अनुकूल अवसर पाकर अपना सिर ऊंचा कर सकती हैं। ठीक यही अवस्था भाषाओं के प्राचीन भांडार की है।

दूसरा गुण जो हिंदी में और भाषाओं की अपेक्षा अधिक पाया जाता है वह यह है कि इसका विस्तार किसी प्रांत वा स्थान की सीमा के भीतर बद्ध नहीं है। समस्त भारतभूमि में एक कोने से दूसरे कोने तक इसका थोड़ा बहुत आधिपत्य जमा हुआ है और इसके द्वारा एक प्रांत के निवासी दूसरे प्रांत के रहनेवालों से अपने मनोगत भावों को येन केन प्रकारेण प्रकाशित कर सकते हैं। यदि विचार कर देखा जाय तो राष्ट्रीयता के लिये यह एक आवश्यक गुण है। तीसरा गुण जिसके कारण हिंदी का स्थान और भाषाओं की अपेक्षा उच्च है वह उसका अपनी मातामही से घनिष्ठ संबंध है। इन सब बातों को देखकर यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि हिंदी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने के योग्य है और उसी के द्वारा हमें राष्ट्र-निर्माण में अमूल्य तथा वांछनीय सहायता मिल सकती है। पर वे क्या उपाय हैं जिनसे हिंदी के इस प्रकार गौरव प्राप्त करने का मार्ग सुगम और सुलभ हो जाय? मेरी समझ में इन उपायों में सबसे पहला स्थान हमें देवनागरी अक्षरों के वर्द्धमान प्रचार को देना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि पहले की अपेक्षा इस समय नागरी का प्रचार बहुत बढ़ चुका है और दिनों दिन बढ़ता जा रहा है; फिर भी उन स्थानों में विशेष सफलता नहीं देख पड़ती जिनमें वह बहुत अधिक वांछनीय है। जब एक ओर हम इस लिपि के नैसर्गिक गुणों की ओर ध्यान देते हैं जिनकी

बड़े बड़े विद्वानों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है और जिनके कारण सारा संसार इसके ग्रहण का पक्षपाती हो सकता है और दूसरी ओर अपने ही देश में उसके समुचित प्रचार में बाधाएं देखते हैं तो न आश्चर्य करते बनता है और न दुःख। इन बाधाओं के कई कारण हैं, जैसे हमारी राजनैतिक स्थिति, अनभिज्ञता, और दुराग्रह—इनका निवारण एक दिन में नहीं हो सकता। पर इसमें संदेह नहीं है कि ज्यों ज्यों इसके गुणों का ज्ञान लोगों को होता जायगा, वे अपने हानि-लाभ को समझने लगेंगे, त्यों त्यों ये विघ्न-बाधाएं कम होती जायंगी। फिर भी यह समझ लेना अत्यंत आवश्यक है कि ये विघ्न-बाधाएं साधारण नहीं हैं और इनके दूर करने में अनवरत परिश्रम की आवश्यकता है। इस संबंध में मैं एक बात कहे बिना नहीं रह सकता। जो लोग इसके गुणों को जानते और इसके प्रचार की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं वे भी जब "अंतः शाक्ता बहिः शैवाः"के सिद्धांत पर चलने लगते हैं तब यही कहना पड़ता है कि हम लोगों में अभी चरित्र का बड़ा अभाव है। इन लोगों में कपट व्यवहार का आधिक्य देखकर कभी कभी निराशा का अंधकार हृदय पर छा जाता है। पर निश्चय जानिए कि अब सार्वजनिक जीवन सुगम नहीं रह गया है। जो लोग सार्वजनिक कामों में अग्रसर होने का विचार रखते हैं उन्हें अपने व्यवहार और बर्ताव में बहुत कुछ परिवर्तन करना होगा और जन साधारण को अपने साथ लेकर चलना पड़ेगा। अब वह समय नहीं रहा कि लोग भेड़ बकरियों की तरह हांके जा सकें।

अब मैं थोड़ी देर के लिये आपका ध्यान हिंदी के गद्य और पद्य की ओर दिलाना चाहता हूं। यद्यपि भाषा के इन दोनों अंगों की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है पर दोनों की गति समान रूप से व्यवस्थित नहीं दिखाई देती। गद्य का रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है, उसमें जो कुछ व्यतिक्रम या व्याघात दिखाई पड़ जाता है वह अधिकांश अवस्थाओं में मतभेद के कारण नहीं बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात या व्यतिक्रम प्रांतिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लंघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखाई पड़ते हैं। इनके लिये कोई मत-संबंधी विवाद नहीं उठ सकता। इनके निवारण के लिये केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य में केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं बांटना चाहिए।

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोड़ा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। इसमें तो कोई मत-भेद नहीं कि जो बोली हिंदी गद्य के लिये ग्रहण की गई है वह दिल्ली और मेरठ प्रांत की है। अतः शब्दों के रूप, लिंग आदि का बहुत कुछ निश्चय तो वहां के शिष्ट प्रयोग द्वारा ही हो सकता है। जैसे पूरब में दही और हाथी को स्त्रीलिंग बोलते हैं पर पश्चिम में विशेष कर युक्त प्रांत में ये दोनों शब्द पुल्लिङ्ग स्वीकार करते हैं; यह इसलिये नहीं कि वे संस्कृत के अनुसार पुल्लिङ्ग वा क्लीव होंगे बल्कि इसलिये कि वे पुल्लिङ्ग रूप में ही उक्त प्रांत में व्यवहृत हैं। एक पंडितजी ने अपनी एक पुस्तक में पूरबी और पश्चिमी हिंदी का विलक्षण संयोग किया है। उनका एक शब्द है—सूतते हैं। सूतब क्रिया पूरब की है। उसमें उक्त पंडितजी ने प्रत्यय लगाकर उसे "सूतते हैं" बनाया। उन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि जिस स्थान में आते हैं जाते हैं आदि बोले जाते हैं वहां "सोते हैं" बोला जाता है "सूतते हैं" नहीं। उन्होंने "ने" विभक्ति पर भी अपनी बड़ी अरुचि दिखाई है, यह नहीं समझा कि वह किस प्रकार क्रिया के कृदंतमूलक रूप के कारण संस्कृत की तृतीया से खड़ी बोली में आई है। कुछ लोग, विशेषतः बिहार के लोग, क्रियाओं के रूपों से लिंग-भेद उठाने की चर्चा भी कभी कभी कर बैठते हैं। पर वे यदि थोड़ी देर के लिये हिंदी भाषा की विकास-प्रणाली पर ध्यान देंगे तो उन्हे विदित होगा कि हिंदी क्रियाओं के रूप संस्कृत के संज्ञा कृदंत रूपों के सांचे में ढले हैं। जैसे 'करता है' रूप संज्ञा शब्द 'कर्त्ता' से बना है। इसी से स्त्रीलिंग से वह संस्कृत "कर्त्री" के अनुसार 'करती है' हो जाता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली प्रांत की है पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रांतों में भी हो गया है। अतः वह उन प्रांतों के शब्दों का भी, अभावपूर्त्ति के निमित्त, अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्म-स्थान में किसी वस्तु का भाव व्यंजित करने के लिये कोई शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रांत से, जहां उसका समाज या साहित्य में प्रवेश है, शब्द ले सकती है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि वह केवल अन्य स्थानों के शब्द मात्र अपने में मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिए। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करे और साहित्य का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अंतःकरण में भावों की अनेकरूपता का विकास करे। ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भी। अतः जो लेख साधारण भावों को प्रकट करता हो वह साधारण ही कहलावेगा, चाहे उसमें सारे संस्कृत कोषों को ढूंढ़ ढूंढ़कर शब्द रखे गए हों और चार चार अंगुल के समास बिछाए गए हों। पर जो लेख ऐसे जटिल भावों को प्रकट करेंगे जो अपरिचित होने के कारण अंतःकरण में जल्दी न धंसंगे वे उच्च कहलावेंगे, चाहे उनमें बोलचाल के साधारण शब्द ही क्यों न भरे हों। ऐसे ही लेखों से उच्च साहित्य की सृष्टि होगी। जो जनता के बीच नए नए भावों का विकास करने में समर्थ हो, जो उसके जीवन-क्रम को उलटने पलटने की क्षमता रखता हो वही सच्चा साहित्य है। अतः लेखकों को अब इस युग में बाण और दंडी होने की आकांक्षा उतनी न करनी चाहिए जितनी वाल्मीकि और व्यास होने की, बर्क, कारलाइल और रस्किन होने की।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गया है। खड़ी बोली की कविता का आरंभ थोड़े ही दिनों से हुआ है। अतः अभी उसमें उतनी शक्ति और सरसता नहीं आई है, पर आशा है कि उचित पथ के अवलंबन द्वारा वह धीरे धीरे आ जायगी। खड़ी बोली में जो अधिकांश कविताएं और पुस्तकें लिखी जाती हैं वे इस बात का ध्यान रखकर नहीं लिखी जातीं कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भेद होता है। कविता की शब्दावली कुछ विशेष ढंग की होती है, उसके वाक्यों का रूप रंग कुछ निराला होता है। किसी साधारण गद्य को नाना छंदों में ढाल देने से ही उसे काव्य का रूप नहीं प्राप्त हो जायगा। अतः कविता की जो सरस और मधुर शब्दावली ब्रजभाषा में चली आ रही है उसका बहुत कुछ अंश खड़ी बोली में भी रखना पड़ेगा। भाववैलक्षण्य के संबंध में जो बातें गद्य के प्रसंग में कही जा चुकी हैं वे कविता के विषय में ठीक घटती हैं। बिना भाव की कविता ही क्या! खड़ी बोली की कविता के प्रचार के साथ काव्य-क्षेत्र में जो अनधिकार प्रवेश की प्रवृत्ति अधिक हो रही है वह ठीक नहीं। मैंने कई नवयुवकों को कविता के मैदान में एक विचित्र ढंग से उतरते देखा है। छात्रावस्था में उन्होंने किसी अंगरेजी रीडर का कोई पद्य उठाया है और कुछ तुकबंदी के साथ

उसका अनुवाद करके वे उसे किसी कवि या लेखक के पास संशोधन के लिये ले गए। कविता के अभ्यास का यह ढंग नहीं है। कविता का अभ्यास आरंभ करने के पहले अपनी भाषा के बहुत से नए पुराने काव्यों की शैली का मनन करना, रीति-ग्रंथों का देखना, रस अलंकार आदि से परिचित होना आवश्यक है। आजकल बहुत सी कविताएं ऐसी देखने में आती हैं जिन्हें आप न खड़ी बोली की कह सकते हैं न ब्रजभाषा की। उनके लेखक खड़ी बोली और ब्रजभाषा का भेद नहीं समझते। वे एक ही चरण में एक स्थान पर खड़ी बोली की क्रिया रखते हैं, दूसरे स्थान पर ब्रजभाषा की। आशा है कि ये सब दोष शीघ्र दूर हो जायंगे और हमारे काव्य का प्रवाह एक सुव्यवस्थित मार्ग का अनुसरण करेगा।

—श्यामसुन्दर दास

---

## मेरा रचना काल

मेरे कवि-जीवन के विकास-क्रम को समझने के लिए पहिले आप मेरे साथ हिमालय की प्यारी तलहटी में चलिये। आपने अल्मोड़े का नाम सुना होगा। वहाँ से बत्तीस मील और उत्तर की ओर चलने पर आप मेरी जन्म-भूमि कौसानी में पहुँच गये। वह जैसे प्रकृति का रम्य शृंगार-गृह है, जहाँ कूर्माचल की पर्वत-श्री एकांत में बैठकर अपना पल-पल परिवर्तित साज सँवारती है। आज से चालीस साल पहले की बात कहता हूँ। तब मैं छोटा-सा चंचल भावुक किशोर था। मेरा काव्य-कंठ अभी तक फूटा नहीं था। पर प्रकृति मुझ मातृहीन बालक को कवि-जीवन के लिए मेरे बिना जाने ही जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय में वह अपनी मीठी, स्वप्नों से भरी हुई चुप्पी अंकित कर चुकी थी जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले स्वरों में बज उठी। पहाड़ी पेड़ों का क्षितिज न जाने कितने ही गहरे-हल्के रंगों के फूलों और कोपलों में मर्मर कर मेरे भीतर अपनी सुंदरता की

रंगीन सुगंधित तहें जमा चुका था। 'मधुबाला की मृदुबोली-सी 'अपनी उस हृदय की गुंजार को मैंने अपने 'वीणा' नामक संग्रह में 'यह तो तुतली बोली में है एक बालिका का उपहार!' कहा है। पर्वत-प्रदेश के निर्मल चंचल सौंदर्य ने मेरे जीवन के चारों ओर अपने नीरव सौंदर्य का जाल बुनना शुरू कर दिया था। मेरे मन के भीतर बरफ की ऊँची चमकीली चोटियाँ रहस्य-भरे शिखरों की तरह उठने लगी थीं, जिन पर खड़ा हुआ नीला आकाश रेशमी चँदोवे की तरह आँखों के सामने फहराया करता था। कितने ही इंद्रधनुष मेरे कल्पना के पट पर रंगीन रेखाएँ खींच चुके थे, बिजलियाँ बचपन की आँखों को चकाचौंध कर चुकी थीं, फेनों के झरने मेरे मन को फुसलाकर अपने साथ गाने के लिए बहा ले जाते और सर्वोपरि हिमालय का आकाश-चुंबी सौंदर्य मेरे हृदय पर एक महान संदेश की तरह, एक स्वर्गोन्मुखी आदर्श की तरह तथा एक विराट् व्यापक आनंद, सौंदर्य तथा तप:पूत पवित्रता की तरह प्रतिष्ठित हो चुका था। मैं छुटपन से जनभीरु और शरमीला था। उधर हिम-प्रदेश की प्राकृतिक सुंदरता मुझ पर अपना जादू चला चुकी थी, इधर घर में मुझे 'मेघदूत,' 'शकुंतला' और 'सरस्वती' मासिक पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं का मधुर पाठ सुनने को मिलता था जो मेरे मन में भरे हुए अवाक् सौंदर्य को जैसे वाणी की झंकारों में झनझना उठने के लिए अज्ञात रूप से प्रेरणा देता था। मेरे बड़े भाई साहित्य और काव्य के अनुरागी थे। वे खड़ी बोली में और पहाड़ी में प्राय: कविता भी लिखते थे। मेरे मन में तभी से लिखने की ओर आकर्षण पैदा हो गया था, और मेरे प्रारंभिक प्रयास भी शुरू हो गये थे जिन्हें मुझे किसी को दिखाने का साहस नहीं होता था। तब मैं दस-ग्यारह साल का रहा हूँगा। उसके बाद मैं अल्मोड़ा हाईस्कूल में पढ़ने चला गया। अल्मोड़ा में उन दिनों जैसे हिंदी की बाढ़ आ गयी थी, एक पुस्तकालय की भी स्थापना वहाँ हो चुकी थी और अन्य नवयुवकों के साथ मैं भी उस बाढ़ में बह गया। पंद्रह-सोलह साल की उम्र में मैंने एक प्रकार से नियमित रूप से लिखना प्रारंभ कर दिया था। मैं तब आठवीं कक्षा में था। हिंदी साहित्य में तब जो कुछ भी सुलभ था उसे मैं बड़े चाव से पढ़ता था। मध्ययुग के काव्य-साहित्य का भी थोड़ा-बहुत अध्ययन कर चुका था। श्रीमैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध', 'रंग में भंग' आदि रचनाओं से प्रभावित होकर मैं हिंदी

के प्रचलित छंदों की साधना में तल्लीन रहता था। उस समय के मेरे चपल प्रयास कुछ हस्तलिखित पत्रों में, 'अल्मोड़ा अखबार' नामक साप्ताहिक में तथा मासिक-पत्रिका 'मर्यादा' में प्रकाशित हुए थे। इन तीन वर्षों की रचनाओं को मैं प्रयोगकाल की रचनाएँ कहूँगा।

सन् १९१८ से २० तक की अधिकांश रचनाएँ मेरे 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में छपी हैं। वीणा-काल में मैंने प्रकृति की छोटी मोटी वस्तुओं को अपनी कल्पना की तूली से रँगकर काव्य की सामग्री इकट्ठा की है। फूल-पत्ते और चिड़ियाँ, बादल-इंद्र-धनुष, ओस-तारे, नदी-झरने, उषा-संध्या, कलरव, मर्मर और टलमल जैसे गुड़ियों और खिलौनों की तरह मेरी बाल-कल्पना की पिटारी को सजाये हुए हैं।

> "छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
> तोड़ प्रकृति से भी माया,
> बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?"

—इत्यादि सरल भावनाओं को बखेरती हुई मेरी काव्य-कल्पना जैसे अपनी समवयस्का बालप्रकृति के गले में बाँहें डाले प्राकृतिक सौंदर्य के छायापथ में विहार कर रही है।

> "उस फैली हरियाली में
> कौन अकेली खेल रही माँ
> सजा हृदय की थाली में
> क्रीड़ा कौतूहल कोमलता
> मोद मधुरिमा हास-विलास
> लीला विस्मय अस्फुटता भय
> स्नेहपुलक सुख सरल हुलास!"

इन पंक्तियों में चित्रित प्रकृति का रूप ही तब मेरे हृदय को लुभाता रहा है। उस समय का मेरा सौंदर्य-ज्ञान उस ओसों के हँसमुख वन-सा था जिस पर स्वच्छ निर्मल स्वप्नों से भरी चाँदनी चुपचाप सोयी हुई हो। उस शीतल वन में जैसे अभी प्रभात की सुनहली ज्वाला नहीं प्रवेश कर पायी थी। स्निग्ध सुंदर मधुर

प्रकृति की गोद माँ की तरह मेरे किशोर जीवन का पालन एवं परिचालन करती थी। 'वीणा' के कई प्रगीत माँ को संबोधन करके लिखे गये हैं।

"माँ, मेरे जीवन की हार'
तेरा उज्ज्वल हृदय हार हो अश्रुकणों का यह उपहार"—आदि

'वीणा'-काल की रचनाओं में प्रकृति-प्रेम के अलावा मेरे भीतर एक उज्ज्वल आदर्श की भावना भी जाग्रत हो चुकी थी। 'वीणा' के कई प्रगीतों में मैंने अपने मन के इन्हीं उच्छ्वासों एवं उद्‌गारों को भरकर स्वर-साधना की है।

मेरा अध्ययन-प्रेम धीरे-धीरे बढ़ने लगा था। श्रीमती नायडू और ठाकुर की अँग्रेजी रचनाओं में मुझे अपने हृदय में छिपे सौंदर्य और रुचि की अधिक मार्जित प्रतिध्वनि मिलती थी। यह सन् १९१९ की बात है, मैं तब बनारस में था। मैंने रवींद्र-साहित्य बँगला में भी पढ़ना शुरू कर दिया था। रघुवंश के कुछ सर्ग भी देख चुका था। रघुवंश के उस विशाल स्फटिक प्रासाद के झरोखों और लोचन-कुवलयित गवाक्षों से मुझे रघु के वंशजों के वर्णन के रूप में कालिदास की उदात्त कल्पना की सुंदर झाँकी मिलने लगी थी। मैं तब भावना के सूत्र में शब्दों की गुरियों को अधिक कुशलता से पिरोना सीख रहा था। इन्हीं दिनों मैंने 'ग्रंथि' नामक वियोगांत खंड-काव्य लिखा था। 'ग्रंथि' के कथानक को दुःखांत बनाने की प्रेरणा देकर जैसे विधाता ने उस युवावस्था के प्रारंभ में ही मेरे जीवन के बारे में भविष्य-वाणी कर दी थी।

'वीणा' में प्रकाशित 'प्रथम रश्मि का आना रंगिनि' नामक कविता ने काव्य-साधना की दृष्टि से नवीन प्रभात की किरण की तरह प्रवेश कर मेरे भीतर 'पल्लव'-काल के काव्य-जीवन का समारंभ कर दिया था। १९१९ की जुलाई में मैं कालेज पढ़ने के लिए प्रयाग आया, तब से करीब दस साल तक प्रयाग ही में रहा। यहाँ मेरा काव्य-संबंधी ज्ञान धीरे-धीरे व्यापक होने लगा। शेली, कीट्स, टेनिसन आदि अँग्रेजी कवियों से मैंने बहुत कुछ सीखा। मेरे मन में शब्द-चयन और ध्वनि-सौंदर्य का बोध पैदा हुआ। 'पल्लव'-काल की प्रमुख रचनाओं का प्रारंभ इसके बाद ही होता है। प्रकृति-सौंदर्य और प्रकृति-प्रेम की अभिव्यंजना 'पल्लव' में अधिक प्रांजल एवं परिपक्व रूप में हुई है। 'वीणा' की रहस्य-प्रिय बालिका अधिक मांसल, सुरुचि, सुरंगपूर्ण बनकर प्रायः मुग्धा युवती का हृदय

पाकर जीवन के प्रति अधिक संवेदनशील बन गयी है। 'सोने का गान', 'निर्झर गान', 'मधुकरी', 'निर्झरी,' 'विश्व-वेणु', 'वीचि-विलास' आदि रचनाओं में वह प्रकृति के रंगजगत में अभिनय करती-सी दिखायी देती है। अब उसे तुहिन-वन में छिपी स्वर्ण-ज्वाल का आभास मिलने लगा है, उषा की मुसकान कनक-मदिर लगने लगी है। वह अब इस रहस्य को नहीं छिपाना चाहती कि उसके हृदय में कोमल वाण लग गया है। निर्झरी का अंचल अब आँसुओं से गीला जान पड़ता है, उसकी कल-कल ध्वनि उसे मूक व्यथा का मुखर भुलाव प्रतीत होती है। वह मधुकरी के साथ फूलों के कटोरों से मधुपान करने को व्याकुल है। सरोवर की चंचल लहरें उससे आँखमिचौनी खेलकर उसके आकुल हृदय को दिव्यप्रेरणा से आश्वासन देने लगी हैं। वह उससे कहती है—

"मुग्धा की-सी मृदु मुस्कान,
खिलते ही लज्जा से म्लान,
स्वर्गिक सुख की-सी आभास
अतिशयता में अचिर महान
दिव्य भूति-सी आ तुम पास
कर जाती हो क्षणिक विलास
आकुल उर को दे आश्वास!"

सन् १९२१ के असहयोग आंदोलन में मैंने कालेज छोड़ दिया। इन दो-एक वर्षों के साहित्यिक प्रवास में ही मेरे मन ने किसी तरह जान लिया था कि मेरे जीवन का विधाता ने कविता के साथ ही ग्रंथिबंधन जोड़ना निश्चय किया है। 'वीणा' में मैंने ठीक ही कहा था—

"प्रेयसि कविते, हे निरुपमिते,
अधरामृत से इन निर्जीवित शब्दों में जीवन लाओ!"

बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं और प्रासादों से लेकर छोटी-छोटी झाड़-फूस की कुटियों से जनाकीर्ण इस जगत में मुझे रहने के लिए मन का एकांत छायावन मिला जिसमें वास्तविक विश्व की हलचल चित्रपट की तरह दृश्य बदलती हुई मेरे जीवन को अज्ञात आवेगों से झकझोरती रही है। इसके बाद का मेरा जीवन अध्ययन-मनन और चिंतन ही में अधिक व्यतीत हुआ। १९२१ में मैंने 'उच्छ्वास' नामक

प्रेम-काव्य लिखा, और उसके बाद ही 'आँसू' ! मेरे तरुण-हृदय का पहला ही आवेश प्रेम का प्रथम स्पर्श पाकर जैसे उच्छ्वास और आँसू बनकर उड़ गया। उच्छ्वास के सहस्र दृग-सुमन खोले हुए पर्वत की तरह मेरा भविष्य जीवन भी जैसे स्वप्नों और भावनाओं के घने कुहासे से ढँककर अपने ही भीतर छिप गया——

"उड़ गया अचानक लो भूधर
फड़का अपार पारद के पर
रवशेष रह गये हैं निर्झर,
लो टूट पड़ा भू पर अंबर !
धँस गये धरा में सभय शाल
उठ रहा धुआँ जल गया ताल,
यों जलद यान में विचर विचर, था इंद्र खेलता इंद्रजाल !"

इसी भूधर की तरह वास्तविकता की ऊँची-ऊँची प्राचीरों से घिरा हुआ यह सामाजिक जगत, जो मेरे यौवन-सुलभ आशा-आकांक्षाओं से भरे हुए हृदय को, अनंत विचारों, मतांतरों, रूढ़ियों, रीतियों की भूल-भूलैया-सा लगता था, जैसे मेरे आंखों के सामने से ओझल हो गया। और यौवन के आवेशों से उठ रहे वाष्पों के ऊपर मेरे हृदय में जैसे एक नवीन अंतरिक्ष उदय होने लगा।

'पल्लव' की छोटी-बड़ी अनेक रचनाओं में जीवन के और युग के कई स्तरों को छूती हुई, भावनाओं की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई, तथा प्राकृतिक सौंदर्य की झाँकियाँ दिखाती हुई मेरी कल्पना 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में मेरे उस काल के हृदय-मंथन और बौद्धिक संघर्ष की विशाल दर्पण-सी है जिसमें 'पल्लव'-युग का मेरा मानसिक विकास एवं जीवन की संग्रहणीय अनुभूतियाँ तथा राग-विराग का समन्वय बिजलियों से भरे बादल की तरह प्रतिबिंबित है। इस अनित्य जगत में नित्य जगत को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसे 'परिवर्तन' के रचनाकाल से प्रारंभ हो गया था, 'परिवर्तन' उस अनुसंधान का केवल प्रतीक मात्र है। हृदयमंथन का दूसरा मुख आप आगे चलकर 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना'-काल की रचनाओं में पायेंगे।

मैं प्रारंभ में आपको ४० साल पीछे ले गया हूँ और प्राकृतिक सौंदर्य की जुगनुओं से जगमगाती हुई घाटी में घुमाकर धीरे-धीरे कर्म-कोलाहल से भरे संसार की ओर

ले आया हूँ। 'परिवर्तन' की अंतिम कुछ पंक्तियों में जैसे इन चालीस वर्षों का इतिहास आ गया है--

"अहे महांबुधि, लहरों के शतलोक चराचर
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर!
तुंग तरंगों से शतयुग शतशत कल्पांतर
उगल महोदर में विलीन करते तुम सत्वर!"

मेरा जन्म सन् १९०० में हुआ है, और १९४७ में मैं जैसे इस संक्रमशील युग के प्रायः अर्द्ध-शताब्दि के उत्थान-पतनों को देख चुका हूँ। अपना देश इन वर्षों में स्वतंत्रता के अदम्य संग्राम से आंदोलित रहा : उसके मनोजगत को हिलाती हुई नवीन जागरण की उद्दाम आँधी जैसे

"द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र, हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्कशीर्ण,
हिमतापपीत मधुवात भीत तुम वीतराग जग जड़ पुराचीन!"

का संदेश बखेरती रही है। दुनिया इन वर्षों में दो महायुद्ध देख चुकी है।

"बहा नर शोणित मूसलधार
रुंडमुंडों की कर बौछार,
छेड़ स्वर शस्त्रों की झंकार
महाभारत गाता संसार!—"

'परिवर्तन' की इन पंक्तियों में जैसे इन्हीं वर्षों के इतिहास का दिग्घोष भरा हुआ है। मनुष्य-जाति की चेतना इन वर्षों में कितने ही परिवर्तनों और हाहाकारों से होकर विकसित हो गयी है। कितनी ही प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ धरती के जीर्ण-जर्जर जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए बिलों में छेड़े हुए साँपों की तरह फन उठाकर फूत्कार कर रही हैं।

यह सब इस युग में क्यों हुआ? मानव-जाति प्रलय वेग से किस ओर जा रही है? मानव-सभ्यता का क्या होगा? इस भिन्न-भिन्न जातियों, वर्गों, देशों, राष्ट्रों के स्वार्थों में खोये हुए धरती के जीवन का भावी निर्माण किस दशा को होना चाहिए—इन प्रश्नों और शंकाओं का समाधान मैंने 'ज्योत्स्ना' नामक नाटिका द्वारा करने का प्रयत्न किया है। 'ज्योत्स्ना' में वेदव्रत कहता है : 'जिस प्रकार

पूर्व की सभ्यता अपने एकांकी आत्मवाद और अध्यात्मवाद के दुष्परिणामों से नष्ट हुई उसी प्रकार पश्चिम की सभ्यता भी अपने एकांकी प्रकृतिवाद, विकासवाद और भूतवाद के दुष्परिणाम से विनाश के दलदल में डूब गयी। पश्चिम के जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भरकर एवं अध्यात्म-वाद के अस्थिपंजर में भूत या जड़-विज्ञान के रूप-रंगों को भर कर हमने आने वाले युग की मूर्ति का निर्माण किया है।'

'ज्योत्स्ना' में मैंने जिस सत्य को सार्वभौमिक दृष्टिकोण से दिखाने का प्रयत्न किया है 'गुंजन' में उसी को व्यक्तिगत दृष्टिकोण से कहा है। 'गुंजन' के प्रगीत मेरी व्यक्तिगत साधना से संबद्ध हैं। 'गुंजन' की 'अप्सरी' में 'ज्योत्स्ना' की ही भावना-धारा को व्यक्तित्व दे दिया है। कला की दृष्टि से 'गुंजन' की शैली 'पल्लव' की तरह मांसल, एवं एंद्रियिक रूपरंगों से भरी हुई नहीं है ; उसकी व्यंजना अधिक सूक्ष्म, मधुर तथा भावप्रवण है। उसमें 'पल्लव' का-सा कल्पना-वैचित्र्य नहीं है पर भावों की सच्चाई और चिंतन की गहराई है।

'गुंजन'-काल के इन अनेक वर्षों के ऊहापोह, संघर्ष और संधि पराभव के बाद आप मुझे 'युगांत' के कवि के रूप में देखते हैं। 'युगांत' के मरु में मेरे मानसिक निष्कर्षों के धुँधले पद-चिह्न पड़े हुए हैं। वही चिन्तन के भार से डगमगाते हुए पैर जैसे 'पाँच कहानियों' की पगडंडियों में भी भटक गये हैं।

'युगांत' में मैं निश्चय रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यंभावी है। मैंने जिन प्रेरणाओं से प्रभावित होकर यह कहा था उसका आभास ज्योत्स्ना में पहले ही दे चुका था। अपने मानसिक चिन्तन और बौद्धिक परिणामों के आधारों का समन्वय मैंने युगवाणी के युगदर्शन में किया है। युगदर्शन में मैंने भौतिकवाद या मार्क्सवाद के सिद्धांतों का जहाँ समर्थन किया है वहाँ उनका अध्यात्मवाद के साथ समन्वय एवं संश्लेषण भी करने का प्रयत्न किया है। भौतिक-वाद के प्रति—जो कि मानव-जीवन की बहिर्गतियों का वैज्ञानिक निरूपण है—अपने वयोवृद्ध विचारकों में जो विरक्ति अथवा उपेक्षा पायी जाती है उसे मैंने दूर करने का प्रयत्न किया है। और अध्यात्मदर्शन के बारे में जो नवशिक्षित युवकों

में भ्रांत धारणाएँ फैली हैं उस पर भी प्रकाश डाला है। मैंने युगवाणी में मध्य-युग की संकीर्ण नैतिकता का घोर खंडन किया है। और जनता के मन में जो अंधविश्वास और मृत आदर्शों के प्रति मोह घर किये हैं उसे छुड़ाने का प्रयत्न कर उन्हें नवीन जागरण का संदेश दिया है। संक्षेप में 'युगांत' के बाद की रचनाओं में मैंने इस बात पर जोर दिया है कि—जिस प्रकार हमें अपने राजनीतिक आर्थिक स्तरों का नवीन रूप से युग-परिस्थितियों के अनुरूप संगठन करना है उसी प्रकार हमें अपने अंतर्जीवन का, अपनी सांस्कृतिक चेतना का भी, मध्ययुगों की विकृतियों से छुड़ाकर, पुनरुद्धार करना है। मार्क्सवाद और अध्यात्मवाद का विवेचन मैं 'आधुनिक कवि' की भूमिका में विस्तारपूर्वक कर चुका हूँ। अगर 'युगवाणी' में मेरे चिंतन का दर्शनपक्ष है तो 'ग्राम्या' में उसी का भावपक्ष है। युगवाणी के दृष्टिकोण से यदि हम अपने ग्रामीणों के जीवन को देखें तो आप गाँवों को शांति और प्राकृतिक सुंदरता की रंगस्थली नहीं पायेंगे। न वहाँ आपको स्वर्ग का सुख ही कहीं देखने को मिलेगा जैसा कि आप प्रायः द्विवेदीयुग के कवियों के ग्राम-वर्णन में पढ़ते आये हैं। सच बात तो यह है कि 'ग्राम्या' की निम्न पंक्तियाँ ही हमारे ग्रामजीवन का सच्चा चित्र हैं—

> "यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
> यह भारत का ग्राम,—सभ्यता संस्कृति से निर्वासित !
> अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में
> गृह गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में !
> प्रकृति धाय यह : तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
> यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत !"

कला की दृष्टि से 'युगवाणी' की भाषा अधिक सूक्ष्म (एब्स्ट्रेक्ट) है जो कि बुद्धि-प्रधान काव्य का एक संस्कार एवं अलंकार भी है। उसमें विश्लेषण का बारीक सौंदर्य मिलता है। 'ग्राम्या' में वही शैली जैसे अधिक भावात्मक होकर खेतों की हरियाली में लहलहा उठी है। 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' का प्रायः एक ही संदेश है जिसकी चर्चा मैं ऊपर कर चुका हूँ।

'ग्राम्या' को समाप्त करने के बाद आप सन् १९४० में पहुँच गये हैं। इस बीच में हिंदी साहित्य की सृजनशीलता हिंदुस्तानी के स्वादहीन आंदोलन से तथा

उसके बाद १९४२ के आंदोलन से काफी प्रभावित रही। दोनों आंदोलनों से हिंदी की सृजनशील चेतना को अपने-अपने ढंग का धक्का पहुँचा, और दोनों ने ही उसे पर्याप्त मात्रा में चिन्तन-मनन के लिए सामग्री भी दी। फिर भी इन वर्षों के साहित्यिक इतिहास के मुख पर एक भारी वितृष्णा-भरे विषाद का घूँघट पड़ा रहा। इसके उपरांत सन् १९२९ की तरह में अपने मानसिक संघर्ष के कारण प्रायः दो साल तक अस्वस्थ रहा। इधर मेरी नवीन रचनाओं के दो संग्रह 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' के नामों से प्रकाशित हुए हैं। 'स्वर्ण-किरण' में स्वर्ण का प्रयोग मैंने नवीन चेतना के प्रतीक के रूप में किया है। उसमें मुख्यतः चेतना-प्रधान कविताएँ हैं। 'स्वर्ण-धूलि' का धरातल अधिकतर सामाजिक है, जैसे वही नवीन चेतना धरती की धूलि में मिलकर एक नवीन सामाजिक जीवन के रूप में अंकुरित हो उठी हो।

'स्वर्ण-किरण' में मैंने पिछले युगों में जिस प्रकार सांस्कृतिक शक्तियों का विभाजन हुआ है उनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसमें पाठकों को विश्व-जीवन की एवं धरती की चेतना संबंधी समस्याओं का दिग्दर्शन मिलेगा। भिन्न-भिन्न देशों एवं युगों की संस्कृतियों को विकसित मानववाद में बाँधकर भू जीवन की नवीन रचना की ओर संलग्न होने का आग्रह किया है। 'स्वर्ण-किरण' में 'स्वर्णोदय' शीर्षक रचना इस दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है। उसके कुछ पद सुनाकर इस वार्ता को समाप्त करता हूँ :

भू रचना का भूतिपाद युग हुआ विश्व-इतिहास में उदित
सहिष्णुता सद्भाव शांति के हों गत संस्कृति धर्म समन्वित !
वृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम मानवता को करे न खंडित
बहिर्नयन विज्ञान हो महत् अंतर्दृष्टि ज्ञान से योजित !
एक निखिल धरणी का जीवन, एक मनुजता का संघर्षण,
विपुल ज्ञान-संग्रह भव-पथ का विश्व-क्षेम का करे उन्नयन !

—सुमित्रानंदन पंत

## पुरस्कार

आर्द्रा नक्षत्र ; आकाश में काले-काले बादलों की घुमड़, जिसमें देव-दुन्दुभी का गम्भीर घोष। प्राची के एक निरभ्र कोने से स्वर्ण-पुरुष झाँकने लगा था—देखने लगा महाराज की सवारी। शैलमाला के अंचल में समतल उर्वरा भूमि से सोंधी बास उठ रही थी। नगर-तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी झुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोर भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।

प्रभात की हेम-किरणों से अनुरंजित नन्हीं-नन्हीं बूंदों का एक झोंका स्वर्ण-मल्लिका के समान बरस पड़ा। मंगल-सूचना से जनता ने हर्ष-ध्वनि की।

रथों, हाथियों और अश्वारोहियों की पंक्ति जम गई। दर्शकों की भीड़ भी कम न थी। गजराज बैठ गया, सीढ़ियों से महाराज उतरे। सौभाग्यवती और कुमारी सुन्दरियों के दो दल, आम्रपल्लवों से सुशोभित मंगल-कलश और फूल, कुंकुम तथा खीलों से भरे थाल लिये, मधुर गान करते हुए आगे बढ़े।

महाराज के मुख पर मधुर मुस्क्यान थी। पुरोहित-वर्ग ने स्वस्त्ययन किया। स्वर्ण-रंजित हल की मूठ पकड़ कर महाराज ने जुते हुए सुन्दर पुष्ट बैलों को चलने का संकेत किया। बाजे बजने लगे। किशोरी कुमारियों ने खीलों और फूलों की वर्षा की।

कोशल का यह उत्सव प्रसिद्ध था। एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ता—उस दिन इन्द्र-पूजन की धूमधाम होती ; गोठ होती। नगर-निवासी उस पहाड़ी भूमि में आनन्द मनाते। प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से सम्पन्न होता ; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में बड़े चाव से आकर योग देते।

मगध का एक राजकुमार अरुण अपने रथ पर बैठा बड़े कुतूहल से यह दृश्य देख रहा था।

बीजों का एक थाल लिये कुमारी मधूलिका महाराज के साथ थी। बीज बोते हुए महाराज जब हाथ बढ़ाते तब मधूलिका उनके सामने थाल कर देती। यह खेत मधूलिका का था, जो इस साल महाराज की खेती के लिए चुना गया था ;

इसलिए बीज देने का सम्मान मधूलिका ही को मिला। वह कुमारी थी। सुन्दरी थी। कौशेय वसन उसके शरीर पर इधर-उधर लहराता हुआ स्वयं शोभित हो रहा था। वह कभी उसे सम्हालती और कभी अपने रूखे अलकों को। कृषक बालिका के शुभ्र भाल पर श्रमकणों की भी कमी न थी, वे सब बरौनियों में गुँथे जा रहे थे। सम्मान और लज्जा उसके अधरों पर मन्द मुस्कराहट के साथ सिहर उठते ; किन्तु महाराज को बीज देने में उसने शिथिलता नहीं की। सब लोग महाराज का हल चलाना देख रहे थे—विस्मय से, कुतूहल से। और अरुण देख रहा था कृषककुमारी मधूलिका को। आह कितना भोला सौन्दर्य ! कितनी सरल चितवन !

उत्सव का प्रधान कृत्य समाप्त हो गया। महाराज ने मधूलिका के खेत का पुरस्कार दिया, थाल में कुछ स्वर्णमुद्राएँ। वह राजकीय अनुग्रह था। मधूलिका ने थाली सिर से लगा ली ; किन्तु साथ ही उसमें की स्वर्ण मुद्राओं को महाराज पर न्योछावर करके बिखेर दिया। मधूलिका की उस समय की ऊर्जस्वित मूर्ति लोग आश्चर्य से देखने लगे। महाराज की भृकुटि भी जरा चढ़ी ही थी कि मधूलिका ने सविनय कहा—

देव ! यह मेरे पितृ-पितामहों की भूमि है। इसे बेचना अपराध है ; इसलिए मूल्य स्वीकार करना मेरी सामर्थ्य के बाहर है। महाराज के बोलने के पहले ही वृद्ध मन्त्री ने तीखे स्वर से कहा—अबोध ! क्या बक रही है ? राजकीय अनुग्रह का तिरस्कार ! तेरी भूमि से चौगुना मूल्य है ; फिर कोशल का तो यह सुनिश्चित राष्ट्रीय नियम है। तू आज से राजकीय रक्षण पाने की अधिकारिणी हुई, इस धन से अपने को सुखी बना !

राजकीय रक्षण की अधिकारिणी तो सारी प्रजा है मन्त्रिवर ! . . . महाराज को भूमि-समर्पण करने में तो मेरा कोई विरोध न था और न है ; किन्तु मूल्य स्वीकार करना असम्भव है।—मधूलिका उत्तेजित हो उठी थी।

महाराज के संकेत करने पर मन्त्री ने कहा—देव ! वाराणसी-युद्ध के अन्यतम वीर सिंहमित्र की यह एक-मात्र कन्या है।—महाराज चौंक उठे—सिंहमित्र की कन्या ! जिसने मगध के सामने कोशल की लाज रख ली थी, उसी वीर की मधूलिका कन्या है ?

हाँ, देव!—सविनय मन्त्री ने कहा।

इस उत्सव के परम्परागत नियम क्या हैं, मन्त्रिवर?—महाराज ने पूछा।

देव, नियम तो बहुत साधारण हैं। किसी भी अच्छी भूमि को इस उत्सव के लिए चुन कर नियमानुसार पुरस्कार-स्वरूप उसका मूल्य दे दिया जाता है। वह भी अत्यन्त अनुग्रहपूर्वक अर्थात् भू-सम्पत्ति का चौगुना मूल्य उसे मिलता है। उस खेती को वही व्यक्ति वर्ष भर देखता है। वह राजा का खेत कहा जाता है।

महाराज को विचार-संघर्ष से विश्राम की अत्यन्त आवश्यकता थी। महाराज चुप रहे। जयघोष के साथ सभा विसर्जित हुई। सब अपने-अपने शिविरों में चले गये; किन्तु मधूलिका को उत्सव में फिर किसी ने न देखा। वह अपने खेत की सीमा पर विशाल मधूक वृक्ष के चिकने हरे पत्तों की छाया में अनमनी चुपचाप बैठी रही।

* * * * *

रात्रि का उत्सव अब विश्राम ले रहा था। राजकुमार अरुण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—वह अपने विश्राम-भवन में जागरण कर रहा था। आँखों में नींद न थी। प्राची में जैसी गुलाली खिल रही थी, वही रंग उसकी आँखों में था। सामने देखा तो मुण्डेर पर कपोती एक पैर पर खड़ी पंख फैलाये अँगड़ाई ले रही थी। अरुण उठ खड़ा हुआ। द्वार पर सुसज्जित अश्व था, वह देखते-देखते नगरतोरण पर जा पहुँचा। रक्षक-गण ऊँघ रहे थे, अश्व के पैरों के शब्द से चौंक उठे।

युवक कुमार तीर-सा निकल गया। सिन्धु देश का तुरंग प्रभात के पवन से पुलकित हो रहा था। घूमता-घूमता अरुण उसी मधूक वृक्ष के नीचे पहुँचा जहाँ, मधूलिका अपने हाथ पर सिर धरे हुए खिन्न-निद्रा का सुख ले रही थी।

अरुण ने देखा, एक छिन्न माधवी लता वृक्ष की शाखा से च्युत होकर पड़ी है। सुमन मुकुलित, भ्रमर निस्पन्द थे। अरुण ने अपने अश्व को मौन रहने का संकेत किया, उस सुषमा को देखने के लिए; परन्तु कोकिल बोल उठा। जैसे उसने अरुण से प्रश्न किया—छिः, कुमारी के सोये हुए सौंदर्य पर दृष्टिपात करनेवाले धृष्ट, तुम कौन? मधूलिका की आँखें खुल पड़ीं। उसने देखा, एक अपरिचित युवक। वह संकोच से उठ बैठी।—भद्रे! तुम्हीं न कल के उत्सव की संचालिका रही हो?

उत्सव! हाँ, उत्सव ही तो था।

कल उस सम्मान...

क्यों आपको कल का स्वप्न सता रहा है? भद्र! आप क्या मुझे इस अवस्था में सन्तुष्ट न रहने देंगे?

मेरा हृदय तुम्हारी उस छवि का भक्त बन गया है देवि!

मेरे उस अभिनय का—मेरी विडम्बना का। आह! मनुष्य कितना निर्दय है, अपरिचित! क्षमा करो, जाओ अपने मार्ग।

सरलता की देवि! मैं मगध का राजकुमार तुम्हारे अनुग्रह का प्रार्थी हूँ—मेरे हृदय की भावना अवगुण्ठन में रहना नहीं जानती। उसे अपनी......।

राजकुमार! मैं कृषक-बालिका हूँ। आप नन्दनविहारी और मैं पृथ्वी पर परिश्रम करके जीनेवाली। आज मेरी स्नेह की भूमि पर से मेरा अधिकार छीन लिया गया है। मैं दुःख से विकल हूँ; मेरा उपहास न करो।

मैं कोशल-नरेश से तुम्हारी भूमि तुम्हें दिलवा दूँगा।

नहीं, वह कोशल का राष्ट्रीय नियम है। मैं उसे बदलना नहीं चाहती—चाहे उससे मुझे कितना ही दुःख हो।

तब तुम्हारा रहस्य क्या है?

यह रहस्य मानव-हृदय का है, मेरा नहीं। राजकुमार, नियमों से यदि मानव-हृदय बाध्य होता, तो आज मगध के राजकुमार का हृदय किसी राजकुमारी की ओर न खिंच कर एक कृषक-बालिका का अपमान करने न आता। मधूलिका उठ खड़ी हुई।

चोट खाकर राजकुमार लौट पड़ा। किशोर किरणों में उसका रत्न-किरीट चमक उठा। अश्व वेग से चला जा रहा था और मधूलिका निष्ठुर प्रहार करके क्या स्वयं आहत न हुई? उसके हृदय में टीस-सी होने लगी। वह सजल नेत्रों से उड़ती हुई धूल देखने लगी।

* * * * *

मधूलिका ने राजा का प्रतिदान, अनुग्रह नहीं लिया। वह दूसरे खेतों में काम करती और चौथे पहर रूखी-सूखी खाकर पड़ रहती। मधूक-वृक्ष के नीचे छोटी-सी पर्णकुटीर थी। सूखे डंठलों से उसकी दीवार बनी थी। मधूलिका

का वही आश्रय था। कठोर परिश्रम से जो रूखा अन्न मिलता, वही उसकी साँसों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त था।

दुबली होने पर भी उसके अंग पर तपस्या की कान्ति थी। आसपास के कृषक उसका आदर करते। वह एक आदर्श बालिका थी। दिन, सप्ताह, महीने और वर्ष बीतने लगे।

शीतकाल की रजनी, मेघों से भरा आकाश, जिसमें बिजली की दौड़धूप। मधूलिका का छाजन टपक रहा था! ओढ़ने की कमी थी। वह ठिठुर कर एक कोने में बैठी थी। मधूलिका अपने अभाव को आज बढ़ा कर सोच रही थी। जीवन से सामंजस्य बनाये रखनेवाले उपकरण तो अपनी सीमा निर्धारित रखते हैं; परन्तु उनकी आवश्यकता और कल्पना भावना के साथ बढ़ती-घटती रहती है। आज बहुत दिनों पर उसे बीती हुई बात स्मरण हुई—दो, नहीं नहीं तीन वर्ष हुए होंगे इसी मधूक के नीचे प्रभात में—तरुण राजकुमार ने क्या कहा था?

वह अपने हृदय से पूछने लगी—उन चाटुकारी के शब्दों को सुनने के लिए उत्सुक-सी वह पूछने लगी—क्या कहा था? दुख-दग्ध हृदय उन स्वप्न-सी बातों को स्मरण रख सकता था! और स्मरण ही होता, तो भी कष्टों की इस काली निशा में वह कहने का साहस करता। हाय री विडम्बना!

आज मधूलिका उस बीते हुए क्षण को लौटा लेने के लिए विकल थी। दारिद्र्य की ठोकरों ने उसे व्यथित और अधीर कर दिया है। मगध की प्रासाद-माला के वैभव का काल्पनिक चित्र—उन सूखे डंठलों के रन्ध्रों से, नभ में—बिजली के आलोक में—नाचता हुआ दिखाई देने लगा। खिलवाड़ी शिशु जैसे श्रावण की सन्ध्या में जुगनू को पकड़ने के लिए हाथ लपकाता है, वैसे ही मधूलिका मन-ही-मन कह रही थी। 'अभी वह निकल गया।' वर्षा ने भीषण रूप धारण किया। गड़गड़ाहट बढ़ने लगी; ओले पड़ने की सम्भावना थी। मधूलिका अपनी जर्जर झोंपड़ी के लिए काँप उठी। सहसा बाहर कुछ शब्द हुआ—

कौन है यहाँ? पथिक को आश्रय चाहिए।

मधूलिका ने डंठलों का कपाट खोल दिया। बिजली चमक उठी। उसने देखा, एक पुरुष घोड़े की डोर पकड़े खड़ा है। सहसा वह चिल्ला उठी—

राजकुमार!

मधूलिका ?—आश्चर्य से युवक ने कहा।

एक क्षण के लिए सन्नाटा छा गया। मधूलिका अपनी कल्पना को सहसा प्रत्यक्ष देखकर चकित हो गई—इतने दिनों के बाद आज फिर!

अरुण ने कहा—कितना समझाया मैंने—परन्तु......

मधूलिका अपनी दयनीय अवस्था पर संकेत करने देना नहीं चाहती थी। उसने कहा—और आज आपकी यह क्या दशा है?

सिर झुकाकर अरुण ने कहा—मैं मगध का विद्रोही निर्वासित कोशल में जीविका खोजने आया हूँ।

मधूलिका उस अन्धकार में हँस पड़ी—मगध के विद्रोही राजकुमार का स्वागत करे एक अनाथिनी कृषक-बालिका, यह भी एक विडम्बना है, तो भी मैं स्वागत के लिए प्रस्तुत हूँ।

* * * * *

शीतकाल की निस्तब्ध रजनी, कुहरे से धुली हुई चाँदनी, हाड़ कँपा देने वाला समीर, तो भी अरुण और मधूलिका दोनों पहाड़ी गह्वर के द्वार पर वट वृक्ष के नीचे बैठे हुए बातें कर रहे हैं। मधूलिका की वाणी में उत्साह था; किन्तु अरुण जैसे अत्यन्त सावधान होकर बोलता।

मधूलिका ने पूछा—जब तुम इतनी विपन्न अवस्था में हो, तो फिर इतने सैनिकों को साथ रखने की क्या आवश्यकता है?

मधूलिका! बाहुबल ही तो वीरों की आजीविका है। ये मेरे जीवन मरण के साथी हैं भला मैं इन्हें कैसे छोड़ देता? और करता ही क्या?

क्यों? हम लोग परिश्रम से कमाते और खाते। अब तो तुम...।

भूल न करो, मैं अपने बाहुबल पर भरोसा करता हूँ। नये राज्य की स्थापना कर सकता हूँ, निराश क्यों हो जाऊँ?—अरुण के शब्दों में कम्पन था; वह जैसे कुछ कहना चाहता था; पर कह न सकता था।

नवीन राज्य! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो कम नहीं। भला कैसे? कोई ढंग बताओ, तो मैं भी कल्पना का आनन्द ले लूँ।

कल्पना का आनन्द नहीं मधूलिका, मैं तुम्हें राजरानी के सम्मान में सिंहासन पर बिठाऊँगा! तुम अपने छिने हुए खेत की चिन्ता करके भयभीत न हो।

एक क्षण में सरल मधूलिका के मन में प्रमाद का अन्धड़ बहने लगा—द्वन्द्व मच गया। उसने सहसा कहा—आह, मैं सचमुच आज तक तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, राजकुमार!

अरुण ढिठाई से उसके हाथों को दबा कर बोला—तो मेरा भ्रम था, तुम सचमुच मुझे प्यार करती हो?

युवती का वक्षस्थल फूल उठा, वह हाँ भी नहीं कह सकी, ना भी नहीं। अरुण ने उसकी अवस्था का अनुभव कर लिया। कुशल मनुष्य के समान उसने अवसर को हाथ से न जाने दिया। तुरन्त बोल उठा—तुम्हारी इच्छा हो तो प्राणों से पण लगा कर मैं तुम्हें इस कोशल-सिंहासन पर बिठा दूँ। मधूलिके! अरुण के खड्गका आतंक देखोगी? —मधूलिका एक बार काँप उठी। वह कहना चाहती थी—नहीं; किन्तु उसके मुँह से निकला—क्या?

सत्य मधूलिका, कोशल-नरेश तभी से तुम्हारे लिए चिन्तित हैं। यह मैं जानता हूँ, तुम्हारी साधारण-सी प्रार्थना वह अस्वीकार न करेंगे। और मुझे यह भी विदित है कि कोशल के सेनापति अधिकांश सैनिकों के साथ पहाड़ी दस्युओं का दमन करने के लिए बहुत दूर चले गये हैं।

मधूलिका की आँखों के आगे बिजलियाँ हँसने लगीं। दारुण भावना से उसका मस्तक विकृत हो उठा। अरुण ने कहा—तुम बोलती नहीं हो?

जो कहोगे वह करूँगी—मंत्रमुग्ध सी मधूलिका ने कहा।

* * * * *

स्वर्णमंच पर कोशल-नरेश अर्द्धनिद्रित अवस्था में आँखें मुकुलित किये हैं। एक चामरधारिणी युवती पीछे खड़ी अपनी कलाई बड़ी कुशलता से घुमा रही है। चामर के शुभ्र आन्दोलन उस प्रकोष्ठ में धीरे-धीरे संचलित हो रहे हैं। ताम्बूल-वाहिनी प्रतिमा के समान दूर खड़ी है।

प्रतिहारी ने आकर कहा—जय हो देव! एक स्त्री कुछ प्रार्थना करने आई है।

आँख खोलते हुए महाराज ने कहा—स्त्री! प्रार्थना करने आई है? आने दो।

प्रतिहारी के साथ मधूलिका आई। उसने प्रणाम किया। महाराज ने स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखा और कहा—तुम्हें कहीं देखा है?

तीन बरस हुए देव! मेरी भूमि खेती के लिए ली गई थी।

ओह, तो तुमने इतने दिन कष्ट में बिताये, आज उसका मूल्य मांगने आई हो, क्यों? अच्छा-अच्छा तुम्हें मिलेगा। प्रतिहारी!

नहीं महाराज, मुझे मूल्य नहीं चाहिए।

मूर्ख! फिर क्या चाहिए?

उतनी ही भूमि, दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की जंगली भूमि, वहीं में अपनी खेती करूँगी! मुझे एक सहायक मिल गया है। वह मनुष्यों से मेरी सहायता करेगा, भूमि को समतल भी तो बनाना होगा।

महाराज ने कहा—कृषक-बालिके! वह बड़ी ऊबड़-खाबड़ भूमि है। तिस पर वह दुर्ग के समीप एक सैनिक महत्व रखती है।

तो फिर निराश लौट जाऊँ?

सिंहमित्र की कन्या! मैं क्या करूँ, तुम्हारी यह प्रार्थना......

देव! जैसी आज्ञा हो!

जाओ तुम श्रमजीवियों को उसमें लगाओ। मैं आमात्य को आज्ञापत्र देने का आदेश करता हूँ।

जय हो देव!—कहकर प्रणाम करती हुई मधूलिका राजमन्दिर के बाहर आई।

दुर्ग के दक्षिण, भयावने नाले के तट पर, घना जंगल है आज मनुष्यों के पद-संचार से शून्यता भंग हो रही थी। अरुण के छिपे हुए मनुष्य स्वतन्त्रता से इधर-उधर घूमते थे। झाड़ियों को काट कर पथ बना रहा था। नगर दूर था, फिर उधर यों ही कोई नहीं आता था। फिर अब तो महाराज की आज्ञा से वहाँ मधूलिका का अच्छा-सा खेत बन रहा था। तब इधर की किसको चिन्ता होती?

एक घने कुञ्ज में अरुण और मधूलिका एक दूसरे को हर्षित नेत्रों से देख रहे थे। सन्ध्या हो चली थी। उस निविड़ वन में उन नवागत मनुष्यों को देख कर पक्षीगण अपने नीड़ को लौटते हुए अधिक कोलाहल कर रहे थे।

प्रसन्नता से अरुण की आँखें चमक उठीं। सूर्य की अन्तिम किरणें झुरमुट में घुस कर मधूलिका के कपोलों से खेलने लगीं। अरुण ने कहा—चार प्रहर और,

विश्वास करो, प्रभात में ही इस जीर्ण कलेवर कोशल-राष्ट्र की राजधानी श्रावस्ती में तुम्हारा अभिषेक होगा और मगध से निर्वासित मैं एक स्वतन्त्र राष्ट्र का अधिपति बनूंगा मधूलिके !

भयानक ! अरुण, तुम्हारा साहस देख म चकित हो रही हूँ। केवल सौ सैनिकों से तुम......

रात के तीसरे प्रहर मेरी विजय-यात्रा होगी।

तो तुमको इस विजय पर विश्वास है ?

अवश्य। तुम अपनी झोंपड़ी में यह रात बिताओ प्रभात से तो राज-मन्दिर ही तुम्हारा लीला-निकेतन बनेगा।

मधूलिका प्रसन्न थी ; किन्तु अरुण के लिए उसकी कल्याण कामना सशंक थी। वह कभी-कभी उद्विग्न-सी होकर बालकों के समान प्रश्न कर बैठती। अरुण उसका समाधान कर देता। सहसा कोई संकेत पाकर उसने कहा—अच्छा अन्धकार अधिक हो गया। अभी तुम्हें दूर जाना है और मुझे भी प्राण-पण से इस अभियान के प्रारम्भिक कार्यों को अर्ध रात्रि तक पूरा कर लेना चाहिए ; तब रात्रि भर के लिए विदा मधूलिके !

मधूलिका उठ खड़ी हुई। कँटीली झाड़ियों से उलझती हुई क्रम से बढ़नेवाले अन्धकार में वह झोंपड़ी की ओर चली।

* * * * *

पथ अन्धकारमय था और मधूलिका का हृदय भी निविड़ तम से घिरा था। उसका मन सहसा विचलित हो उठा, मधुरता नष्ट हो गई। जितनी सुख-कल्पना थी, वह जैसे अन्धकार में विलीन होने लगी। वह भयभीत थी, पहला भय उसे अरुण के लिए उत्पन्न हुआ, यदि वह सफल न हुआ तो ? फिर सहसा सोचने लगी—वह क्यों सफल हो ? श्रावस्ती-दुर्ग एक विदेशी के अधिकार में क्यों चला जाय ? मगध कोशल का चिर-शत्रु ! ओह, उसकी विजय ! कोशलनरेश ने क्या कहा था—'सिंहमित्र की कन्या।' सिंहमित्र कोशल का रक्षक वीर, उसी की कन्या आज क्या करने जा रही है ? नहीं, नहीं। 'मधूलिका ! मधूलिका !!' जैसे उसके पिता उस अन्धकार में पुकार रहे थे। वह पगली की तरह चिल्ला उठी। रास्ता भूल गई।

रात एक पहर बीत चली, पर मधूलिका अपनी झोंपड़ी तक न पहुँची। वह उधेड़बुन में विक्षिप्त-सी चली जा रही थी। उसकी आँखों के सामने कभी सिंहमित्र और कभी अरुण की मूर्त्ति अन्धकार में चित्रित हो जाती। उसे सामने आलोक दिखाई पड़ा। वह बीच पथ में खड़ी हो गई। प्राय: एक सौ उल्काधारी अश्वारोही चले आ रहे थे और आगे-आगे एक वीर अधेड़ सैनिक था। उसके बायें हाथ में अश्व की वल्गा और दाहिने हाथ में नग्न खड्ग। अत्यन्त धीरता से वह टुकड़ी अपने पथ पर चल रही थी। परन्तु मधूलिका बीच पथ से हिली नहीं। प्रमुख सैनिक पास आ गया; पर मधूलिका अब भी नहीं हटी। सैनिक ने अश्व रोक कर कहा—कौन ? कोई उत्तर नहीं मिला। तब तक दूसरे अश्वारोही ने कड़क कर कहा—तू कौन है स्त्री ? कोशल के सेनापति को उत्तर शीघ्र दे।

रमणी जैसे विकार-ग्रस्त स्वर में चिल्ला उठी—बाँध लो, मुझे बांध लो ! मेरी हत्या करो। मैंने अपराध ही ऐसा किया है।

सेनापति हँस पड़े, बोले—पगली है।

पगली नहीं, यदि वही होती, तो इतनी विचार-वेदना क्यों होती ? सेनापति ! मुझे बाँध लो। राजा के पास ले चलो।

क्या है ? स्पष्ट कह !

श्रावस्ती का दुर्ग एक प्रहर में दस्युओं के हस्तगत हो जायगा। दक्षिणी नाले के पार उनका आक्रमण होगा।

सेनापति चौंक उठे। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—तू क्या कह रही है ?

मैं सत्य कह रही हूँ; शीघ्रता करो।

सेनापति ने अस्सी सैनिकों को नाले की ओर धीरे-धीरे बढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं बीस अश्वारोहियों के साथ दुर्ग की ओर बढ़े। मधूलिका एक अश्वारोही के साथ बाँध दी गई।

* * * * *

श्रावस्ती का दुर्ग, कोशल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रान्तों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह केवल कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कोशल

के अतीत की स्वर्ण-गाथाएं लिपटी हैं। वही लोगों की ईर्ष्या का कारण है। जब थोड़े से अश्वारोही बड़े वेग से आते हुए दुर्ग-द्वार पर रुके तब दुर्ग के प्रहरी चौंक उठे। उल्का के आलोक में उन्होंने सेनापति को पहचाना, द्वार खुला। सेनापति घोड़े की पीठ से उतरे। उन्होंने कहा—अग्निसेन! दुर्ग में कितने सैनिक होंगे?

सेनापति की जय हो! दो सौ।

उन्हें शीघ्र ही एकत्र करो; परन्तु बिना किसी शब्द के। १०० को लेकर तुम शीघ्र ही चुपचाप दुर्ग के दक्षिण की ओर चलो। आलोक और शब्द न हो।

सेनापति ने मधूलिका की ओर देखा। वह खोल दी गई। उसे अपने पीछे आने का संकेत कर सेनापति राजमन्दिर की ओर बढ़े। प्रतिहारी ने सेनापति को देखते ही महाराज को सावधान किया। वह अपनी सुख-निद्रा के लिए प्रस्तुत हो रहे थे; किन्तु सेनापति और साथ में मधूलिका को देखते ही चंचल हो उठे। सेनापति ने कहा—जय हो देव! इस स्त्री के कारण मुझे इस समय उपस्थित होना पड़ा है।

महाराज ने स्थिर नेत्रों से देख कर कहा—सिंहमित्र की कन्या, फिर यहाँ क्यों?—क्या तुम्हारा क्षेत्र नहीं बन रहा है? कोई बाधा? सेनापति! मैंने दुर्ग के दक्षिणी नाले के समीप की भूमि इसे दी है। क्या उसी सम्बन्ध में तुम कहना चाहते हो?

देव! किसी गुप्त शत्रु ने उसी ओर से आज की रात में दुर्ग पर अधिकार कर लेने का प्रबन्ध किया है और इसी स्त्री ने मुझे पथ में यह सन्देश दिया है।

राजा ने मधूलिका की ओर देखा। वह काँप उठी। घृणा और लज्जा से वह गड़ी जा रही थी। राजा ने पूछा—मधूलिका, यह सत्य है?

हाँ, देव!

राजा ने सेनापति से कहा—सैनिकों को एकत्र करके तुम चलो, मैं अभी आता हूँ। सेनापति के चले जाने पर राजा ने कहा—सिंहमित्र की कन्या! तुमने एक बार फिर कोशल का उपकार किया। यह सूचना देकर तुमने पुरस्कार का काम किया है। अच्छा, तुम यहीं ठहरो। पहले उन आततायियों का प्रबन्ध कर लूँ।

* * * * *

अपने साहसिक अभियान में अरुण बन्दी हुआ और दुर्ग उल्का के आलोक में अतिरंजित हो गया। भीड़ ने जयघोष किया। सबके मन में उल्लास था। श्रावस्ती-दुर्ग आज एक दस्यु के हाथ में जाने से बचा। आबाल-वृद्ध-नारी आनन्द से उन्मत्त हो उठे।

उषा के आलोक में सभा मण्डप दर्शकों से भर गया। बन्दी अरुण को देखते ही जनता ने रोष से हुङ्कार करते हुए कहा—'वध करो !' राजा ने सब से सहमत होकर आज्ञा दी। 'प्राण-दण्ड।' मधूलिका, बुलाई गई। वह पगली-सी आकर खड़ी हो गई। कोशल-नरेश ने पूछा—मधूलिका, तुझे जो पुरस्कार लेना हो, माँग। वह चुप रही।

राजा ने कहा—मेरे निज की जितनी खेती है, मैं सब तुझे देता हूँ। मधूलिका ने एक बार बन्दी अरुण की ओर देखा। उसने कहा मुझे कुछ न चाहिए। अरुण हँस पड़ा। राजा ने कहा—नहीं, मैं तुझे अवश्य दूँगा। माँग ले।

तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले। कहती हुई वह बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।

—जयशङ्कर प्रसाद

---

## कफ़न

झोंपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए हैं, और अन्दर बेटे की जवान बीबी बुधिया प्रसव-वेदना से पछाड़ खा रही थी। रह-रहकर उसके मुँह से ऐसी दिल हिला देनेवाली आवाज निकलती थी कि दोनों कलेजा थाम लेते थे। जाड़ों की रात थी, प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई, सारा गाँव अन्धकार में लय हो गया था।

घीसू ने कहा—मालूम होता है, बचेगी नहीं। सारा दिन दौड़ते हो गया, जा देख तो आ।

माधव चिढ़कर बोला—मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती? देख-कर क्या करूँ?

'तू बड़ा बेदर्द है बे! साल भर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफाई!

'तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पाँव पटकना नहीं देखा जाता।'

चमारों का कुनबा था और सारे गाँव में बदनाम। घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम। माधव इतना कामचोर था कि आध घण्टे काम करता तो घण्टे भर चिलम पीता। इसलिए उन्हें कहीं मजदूरी नहीं मिलती थी। घर में मुट्ठी भर भी अनाज मौजूद हो, तो उनके लिए काम करने की कसम थी। जब दो-चार फ़ाके हो जाते तो घीसू पेड़ पर चढ़कर लकड़ियाँ तोड़ लाता और माधव बाजार से बेच लाता। और जब तक वह पैसे रहते, दोनों इधर-उधर मारे-मारे फिरते। जब फाके की नौबत आ जाती, तो फिर लकड़ियाँ तोड़ते या मजदूरी तलाश करते। गाँव में काम की कमी न थी। किसानों का गाँव था, मेहनती आदमी के लिए पचास काम थे। मगर इन दोनों को लोग उसी वक्त बुलाते, जब दो आदमियों से एक का काम पाकर भी सन्तोष कर लेने के सिवा और कोई चारा न होता। अगर दोनों साधु होते, तो उन्हें संतोष और धैर्य के लिए संयम और नियम की बिलकुल जरूरत न होती। यह तो इनकी प्रकृति थी। विचित्र जीवन था इनका! घर में मिट्टी के दो-चार बर्तनों के सिवा कोई सम्पत्ति नहीं। फटे चीथड़ों से अपनी नग्नता को ढाँके हुए जिये जाते थे। संसार की चिन्ताओं से मुक्त! कर्ज से लदे हुए। गालियाँ भी खाते, मार भी खाते, मगर कोई भी ग़म नहीं। दीन इतने कि वसूली की बिलकुल आशा न रहने पर भी लोग इन्हें कुछ-न-कुछ कर्ज दे देते थे। मटर, आलू की फसल में दूसरों के खेतों से मटर या आलू उखाड़ लाते और भूनभानकर खा लेते या दस-पाँच ऊख उखाड़ लाते और रात को चूसते। घीसू ने इसी आकाश-वृत्ति से साठ साल की उम्र काट दी और माधव भी सपूत बेटे की तरह बाप ही के पद-चिह्नों पर चल रहा था, बल्कि उसका नाम और भी उजागर कर रहा था। इस

वक्त भी दोनों अलाव के सामने बैठकर आलू भून रहे थे, जो कि किसी के खेत से खोद लाये थे। घीसू की स्त्री का तो बहुत दिन हुए देहान्त हो गया था। माधव का ब्याह पिछले साल हुआ था। जब से यह औरत आई थी, उसने इस खानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी। पिसाई करके या घास छीलकर वह सेर भर आटे का इन्तजाम कर लेती थी और इन दोनों बे-गैरतों का दोजख भरती रहती थी। जब से वह आई, यह दोनों और भी आलसी और आरामतलब हो गये थे। बल्कि कुछ अकड़ने भी लगे थे। कोई कार्य करने को बुलाता, तो निर्व्याज भाव से दुगुनी मजदूरी माँगते। वही औरत आज प्रसव-वेदना से मर रही थी और यह दोनों शायद इसी इन्तजार में थे कि वह मर जाय, तो आराम से सोयें।

घीसू ने आलू निकालकर छीलते हुए कहा—जाकर देख तो, क्या दशा है उसकी? चुड़ैल का फिसाद होगा, और क्या? यहाँ तो ओझा भी एक रुपया माँगता है!

माधव को भय था कि वह कोठरी में गया, तो घीसू आलुओं का बड़ा भाग साफ कर देगा। बोला—मुझे वहाँ जाते डर लगता है।

'डर किस बात का है, मैं तो यहाँ हूँ ही!'

'तो तुम्हीं जाकर देखो न?'

'मेरी औरत जब मरी थी, तो मैं तीन दिन तक उसके पास से हिला तक नहीं और फिर मुझसे लजायेगी कि नहीं? जिसका कभी मुँह नहीं देखा, आज उसका उघड़ा हुआ बदन देखूँ! उसे तन की सुध भी तो न होगी? मुझे देख लेगी तो खुलकर हाथ-पाँव भी न पटक सकेगी!'

'मैं सोचता हूँ, कोई बाल-बच्चा हो गया तो क्या होगा? सोंठ, गुड़, तेल, कुछ भी तो नहीं घर में!

'सब कुछ आ जायगा। भगवान दें तो? जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं, वे ही कल बुलाकर रुपये देंगे। मेरे नौ लड़के हुए, घर में कभी कुछ न था; मगर भगवान ने किसी-न-किसी तरह बेड़ा पार ही लगाया।'

जिस समाज में रात-दिन मेहनत करनेवालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं

से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान् था और किसानों के विचार-शून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था। हाँ, उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाजों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मण्डली के और लोग गाँव के सरगना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गाँव उँगली उठाता था। फिर भी उसे यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम-से-कम उसे किसानों की-सी जाँ तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती। और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फ़ायदा तो नहीं उठाते !

दोनों आलू निकाल-निकालकर जलते-जलते खाने लगे। कल से कुछ नहीं खाया था। इतना सब्र न था कि उन्हें ठण्डा हो जाने दें। कई बार दोनों की जबानें जल गयीं। छिल जाने पर आलू का बाहरी हिस्सा तो बहुत ज्यादा गर्म न मालूम होता ; लेकिन दाँतों के तले पड़ते ही अन्दर का हिस्सा जबान और हलक और तालू को जला देता था और उस अंगारे को मुँह में रखने से ज्यादा खैरियत इसी में थी कि वह अन्दर पहुँच जाय। वहाँ उसे ठण्डा करने के लिए काफी सामान थे। इसलिए दोनों जल्द-जल्द निगल जाते। हालाँकि इस कोशिश में उनकी ग्राँखों से ग्राँसू निकल आते।

घीसू को उस वक्त ठाकुर की बारात याद आयी, जिसमें बीस साल पहले वह गया था। उस दावत में उसे जो तृप्ति मिली थी, वह उसके जीवन में एक याद रखने लायक बात थी और आज भी उसकी याद ताजा थी ! बोला—वह भोज नहीं भूलता। तब से फिर उस तरह का खाना और भरपेट नहीं मिला। लड़कीवालों ने सबको भरपेट पूड़ियाँ खिलाई थीं, सबको ! छोटे-बड़े सबने पूड़ियाँ खायीं और असली घी की ! चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, चटनी, मिठाई। अब क्या बताऊँ कि उस भोज में क्या स्वाद मिला। कोई रोक-टोक नहीं थी। जो चीज चाहो माँगो और जितना चाहो खाग्रो। लोगों ने ऐसा खाया, ऐसा खाया, किसी से पानी न पिया गया। मगर परोसनेवाले हैं कि पत्तल में गर्म-गर्म गोल-गोल सुवासित कचौड़ियाँ डाले देते हैं।

मना करते हैं कि नहीं चाहिए, पत्तल पर हाथ से रोके हुए हैं। मगर वह हैं कि दिये जाते हैं। और जब मुँह धो लिया, तो पान-इलायची भी मिली। मगर मुझे पान लेने की कहाँ सुध थी? खड़ा न हुआ जाता था? चटपट जाकर अपने कम्बल पर लेट गया। ऐसा दिल-दरियाव था वह ठाकुर!

माधव ने इन पदार्थों का मन-ही-मन मजा लेते हुए कहा—अब हमें कोई ऐसा भोज नहीं खिलाता।

'अब कोई क्या खिलायेगा? वह जमाना दूसरा था। अब तो सबको किफायत सूझती है। सादी-ब्याह में मत खर्च करो, क्रिया-कर्म में मत खर्च करो। पूछो, गरीबों का माल बटोर-बटोर कर कहाँ रखोगे! बटोरने में तो कमी नहीं है। हाँ, खर्च में किफ़ायत सूझती है।'

'तुमने एक बीस पूरियाँ खायी होंगी?'

'बीस से ज्यादा खायी थीं!'

'मैं पचास खा जाता!'

'पचास से कम मैंने न खायी होंगी। अच्छा पट्ठा था। तू तो मेरा आधा भी नहीं है।'

आलू खाकर दोनों ने पानी पिया और वहीं अलाव के सामने अपनी धोतियाँ ओढ़कर पाँव पेट में डाले सो रहे। जैसे दो बड़े-बड़े अजगर गेंडुलियाँ मारे पड़े हों।

और बुधिया अभी तक कराह रही थी।

## ( २ )

सवेरे माधव ने कोठरी में जाकर देखा, तो उसकी स्त्री ठण्ढी हो गयी थी। उसके मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। पथराई हुई आँखें ऊपर टँगी हुई थीं। सारी देह धूल से लथपथ हो रही थी। उसके पेट में बच्चा मर गया था।

माधव भागा हुआ घीसू के पास आया। फिर दोनों जोर-जोर से हाय-हाय करने और छाती पीटने लगे। पड़ोसवालों ने यह रोना-धोना सुना, तो दौड़े हुए आये और पुरानी मर्यादा के अनुसार इन अभागों को समझाने लगे।

मगर ज्यादा रोने-पीटने का अवसर न था। कफ़न की और लकड़ी की

फ़िक्र करनी थी। घर में तो पैसा इस तरह गायब था, जैसे चील के घोंसले में मांस।

बाप-बेटे रोते हुए गाँव के जमींदार के पास गये। वह इन दोनों की सूरत से नफरत करते थे। कई बार इन्हें अपने हाथों पीट चुके थे। चोरी करने के लिए, वादे पर काम पर न आने के लिए। पूछा—क्या है बे घिसुआ, रोता क्यों है? अब तो तू कहीं दिखाई भी नहीं देता! मालूम होता है, इस गाँव में रहना नहीं चाहता।

घीसू ने जमीन पर सिर रखकर आँखों में आँसू भरे हुए कहा—सरकार! बड़ी विपत्ति में हूँ। माधव की घरवाली रात को गुजर गयी। रात भर तड़पती रही सरकार! हम दोनों उसके सिरहाने बैठे रहे। दवा-दारू जो कुछ हो सका, सब कुछ किया, मुदा वह हमें दगा दे गयी। अब कोई एक रोटी देनेवाला भी न रहा मालिक! तबाह हो गये। घर उजड़ गया। आपका गुलाम हूँ, अब आपके सिवा कौन उसकी मिट्टी पार लगायेगा। हमारे हाथ में तो जो कुछ था, वह सब तो दवा-दारू में उठ गया। सरकार ही की दया होगी तो उसकी मिट्टी उठेगी। आपके सिवा किसके द्वार पर जाऊँ?

जमींदार साहब दयालु थे। मगर घीसू पर दया करना काले कम्बल पर रङ्ग चढ़ाना था। जी में तो आया, कह दें, चल, दूर हो यहाँ से; यों तो बुलाने से भी नहीं आता, आज जब गरज पड़ी तो आकर खुशामद कर रहा है। हरामखोर कहीं का, बदमाश! लेकिन यह क्रोध या दण्ड का अवसर न था। जी में कुढ़ते हुए दो रुपये निकालकर फेंक दिये। मगर, सान्त्वना का एक शब्द भी मुँह से न निकाला। उसकी तरफ ताका नहीं। जैसे सिर का बोझ उतारा हो।

जब जमींदार साहब ने दो रुपये दिये, तो गाँव के बनिये महाजनों को इनकार का साहस कैसे होता? घीसू जमींदार के नाम का ढिंढोर भी पीटना जानता था। किसी ने दो आने दिये, किसी ने चार आने। एक घण्टे में घीसू के पास पाँच रुपये की अच्छी रकम जमा हो गयी। कहीं से नाज मिल गया, कहीं से लकड़ी। और दोपहर को घीसू और माधव बाजार से कफ़न लाने चले। इधर लोग बाँस-वाँस काटने लगे।

गाँव की नर्म दिल स्त्रियाँ आ-आकर लाश को देखती थीं और उसकी बेकसी पर दो बूँद आँसू गिराकर चली जाती थीं।

( ३ )

बाजार में पहुँचकर घीसू बोला—लकड़ी तो उसे जलाने भर को मिल गयी है, क्यों माधव !

माधव बोला—हाँ, लकड़ी तो बहुत है, अब कफ़न चाहिए।

'तो चलो, कोई हलका-सा कफ़न ले लें।'

हाँ और क्या ! लाश उठते-उठते रात हो जायगी। रात को कफ़न कौन देखता है ?'

'कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते जी तन ढाँकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए।'

'कफ़न लाश के साथ जल ही तो जाता है।'

'और क्या रखा रहता है ? यही पाँच रुपये पहले मिलते, तो कुछ दवा-दारू कर लेते।'

दोनों एक दूसरे के मन की बात ताड़ रहे थे। बाजार में इधर-उधर घूमते रहे। कभी इस बजाज की दूकान पर गये, कभी उसकी दूकान पर। तरह-तरह के कपड़े, रेशमी और सूती देखे, मगर कुछ जँचा नहीं। यहाँ तक कि शाम हो गयी। तब दोनों न जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने आ पहुँचे और जैसे किसी पूर्व-निश्चित अवस्था से अन्दर चले गये। वहाँ जरा देर तक दोनों असमंजस में खड़े रहे। फिर घीसू ने गद्दी के सामने जाकर कहा—साहुजी, एक बोतल हमें भी देना।

इसके बाद कुछ चिखौना आया, तली हुई मछलियाँ आईं और दोनों बरामदे में बैठकर शान्तिपूर्वक पीने लगे।

कई कुज्जियाँ ताबड़तोड़ पीने के बाद दोनों सरूर में आ गये।

घीसू बोला—कफ़न लगाने से क्या मिलता ? आखिर जल ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो न जाता।

माधव आसमान की तरफ देखकर बोला, मानो देवताओं को अपनी निष्पापता

का साक्षी बना रहा हो—दुनिया का दस्तूर है, नहीं लोग बाँभनों को हजारों रुपये क्यों दे देते हैं। कौन देखता है, परलोक में मिलता है या नहीं!

'बड़े आदमियों के पास धन है, फूँकें! हमारे पास फूँकने को क्या है?'

'लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे? लोग पूछेंगे नहीं, कफ़न कहाँ है?'

घीसू हँसा—अबे कह देंगे कि रुपये कमर से खिसक गये। बहुत ढूँढ़ा, मिले नहीं। लोगों को विश्वास तो न आयेगा, लेकिन फिर वही रुपये देंगे।

माधव भी हँसा—इस अनपेक्षित सौभाग्य पर। बोला—बड़ी अच्छी थी बेचारी! मरी तो खूब खिला-पिलाकर!

आधी बोतल से ज्यादा उड़ गयी। घीसू ने दो सेर पूड़ियाँ मँगाई। चटनी, अचार, कलेजियाँ। शराबखाने के सामने ही दूकान थी। माधव लपककर दो पत्तलों में सारे सामान ले आया। पूरा डेढ़ रुपया खर्च हो गया। सिर्फ थोड़े-से पैसे बच रहे।

दोनों इस वक्त शान से बैठे हुए पूड़ियाँ खा रहे थे जैसे जंगल में कोई शेर अपना शिकार उड़ा रहा हो। न जवाबदेही का खौफ था न बदनामी की फिक्र। इन भावनाओं को उन्होंने बहुत पहले ही जीत लिया था।

घीसू दार्शनिक भाव से बोला—हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है, तो क्या उसे पुन्न न होगा?

माधव ने श्रद्धा से सिर झुकाकर तसदीक की—जरूर से जरूर होगा। भगवान्, तुम अन्तर्यामी हो। उसे बैकुण्ठ ले जाना। हम दोनों हृदय से आशीर्वाद दे रहे हैं। आज जो भोजन मिला, वह कभी उम्र भर न मिला था।

एक क्षण के बाद माधव के मन में एक शंका जागी। बोला—क्यों दादा, हम लोग भी तो एक-न-एक दिन वहाँ जायँगे ही।

घीसू ने इस भोले-भाले सवाल का कुछ उत्तर न दिया। वह परलोक की बातें सोचकर इस आनन्द में बाधा न डालना चाहता था।

'जो वहाँ वह हम लोगों से पूछे कि तुमने हमें कफ़न क्यों नहीं दिया तो क्या कहोगे?'

'कहेंगे तुम्हारा सिर!'

'पूछेगी तो जरूर!'

'तू कैसे जानता है कि उसे कफ़न न मिलेगा ? तू मुझे ऐसा गधा समझता है ? साठ साल क्या दुनिया में घास खोदता रहा हूँ ! उसको कफ़न मिलेगा और इससे बहुत अच्छा मिलेगा !'

माधव को विश्वास न आया। बोला—कौन देगा ? रुपये तो तुमने चट कर दिये। वह तो मुझसे पूछेगी। उसकी माँग में तो सेंदुर मैंने डाला था।'

घीसू गर्म होकर बोला—मैं कहता हूँ, उसे कफ़न मिलेगा, तू मानता क्यों नहीं ?

'कौन देगा, बताते क्यों नहीं ?'

'वही लोग देंगे, जिन्होंने कि अबकी दिया। हाँ, अबकी रुपये हमारे हाथ न आयेंगे।'

ज्यों-ज्यों अँधेरा बढ़ता था और सितारों की चमक तेज होती थी, मधुशाला की रौनक भी बढ़ती जाती थी। कोई गाता था, कोई डींग मारता था, कोई अपने संगी के गले लिपटा जाता था। कोई अपने दोस्त के मुँह में कुल्हड़ लगाये देता था।

वहाँ के वातावरण में सरूर था, हवा में नशा। कितने तो यहाँ आकर एक चुल्लू में मस्त हो जाते थे। शराब से ज्यादा यहाँ की हवा उन पर नशा करती थी। जीवन की बाधाएँ यहाँ खींच लाती थीं और कुछ देर के लिए यह भूल जाते थे कि वे जीते हैं या मरते हैं ! या न जीते हैं न मरते हैं।

और यह दोनों बाप-बेटे अब भी मजे ले-लेकर चुसकियाँ ले रहे थे। सबकी निगाहें इनकी ओर जमी हुई थीं। दोनों कितने भाग्य के बली हैं। पूरी बोतल बीच में है।

भरपेट खाकर माधव ने बची हुई पूड़ियों का पत्तल उठाकर एक भिखारी को दे दिया, जो खड़ा इनकी ओर भूखी आँखों से देख रहा था। और 'देने' के गौरव, आनन्द और उल्लास का अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया।

घीसू ने कहा—ले जा, खूब खा और आशीर्वाद दे ! जिसकी कमाई है, वह तो मर गयी। मगर तेरा आशीर्वाद उसे जरूर पहुँचेगा। रोयें-रोयें से आशीर्वाद दो, बड़ी गाढ़ी कमाई के पैसे हैं !

माधव ने फिर आसमान की तरफ देखकर कहा---वह बैंकुण्ठ में जायगी दादा, बैकुण्ठ की रानी बनेगी।

घीसू खड़ा हो गया और जैसे उल्लास की लहरों में तैरता हुआ बोला---हाँ बेटा, बैकुण्ठ में जायगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं। मरते-मरते हमारी ज़िन्दगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गयी। वह न बैकुण्ठ में जायगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जायँगे, जो ग़रीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गङ्गा में नहाते हैं और मन्दिरों में जल चढ़ाते हैं?

श्रद्धालुता का यह रंग तुरन्त ही बदल गया। अस्थिरता नशे की खासियत है। दुःख और निराशा का दौरा हुआ।

माधव बोला---मगर दादा, बेचारी ने जिन्दगी में बड़ा दुःख भोगा। कितना दुःख झेलकर मरी।

वह आँखों पर हाथ रखकर रोने लगा, चीखें मार मारकर।

घीसू ने समझाया---क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि वह माया-जाल से मुक्त हो गयी! जञ्जाल से छूट गयी, बड़ी भाग्यवान् थी, जो इतनी जल्द मायामोह के बन्धन तोड़ दिये।

और दोनों खड़े होकर गाने लगे---

'ठगिनी क्यों नैना झमकावे! ठगिनी!'

पियक्कड़ों की आँखें इनकी ओर लगी हुई थीं और यह दोनों अपने दिल में मस्त गाये जाते थे। फिर दोनों नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी। गिरे भी, मटके भी। भाव भी बताये, अभिनय भी किये और आखिर नशे से बदमस्त होकर वहीं गिर पड़े!

---प्रेमचन्द

---

## मुहब्बत का रंग

[ इस कहानी के पीछे भी एक लम्बी कहानी है। पण्डित जी ने इसे बिलासपुर डिस्ट्रिक्ट जेल में सन् १९२१ में राजबन्दी की स्थिति में लिखा था। वहीं से पण्डित बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन' के पास 'प्रभा' में प्रकाशित होने के लिये भेजा। पण्डित जी के पास इसकी कोई दूसरी प्रतिलिपि न थी और दुर्भाग्य से 'प्रभा' कार्यालय से यह बिना छपे ही खो गई।

कहानी खो गई किन्तु कहानी का प्लाट पण्डित जी की स्मृति में चक्कर काटता रहा। सन् १९३० में जब पण्डित जी जबलपुर सेन्ट्रल जेल में थे, तब उन्होंने दुबारा इस कहानी को लिखा और श्री हरिप्रसाद जी के द्वारा 'विशाल भारत' में प्रकाशित होने को भेजा, किन्तु दुर्भाग्यवश कहानी फिर लापता हो गई। ऊब कर पण्डित जी ने कहानी का कथानक एक तरुण मित्र को दिया, पर वे उस कथानक के साथ समुचित न्याय न कर पाये। अन्त में मार्च सन् १९४० में पण्डित जी ने तीसरी बार इस कहानी को काग़ज़ पर उतारा। इस तरह २० वर्षों के बाद अपने चौथे जन्म में यह कहानी हिन्दी पाठकों के सामने आ रही है। ]

( १ )

छरहरा जवान। गोरा बदन। चेचक के दाग़। कानों में सोने के दो बहुत पतले बाले पड़े हुए। आंखों में कल रात काजल लगाया था, जो अभी, दूसरे दिन के तीसरे पहर तक धुला नहीं था ; मानों खाये हुए प्याज की बू हो, जो मिटने के लिये और वक्त मांगती हो। मांग पट्टी के बाल। हाथ में चांदी की, एक कांच का टुकड़ा लगी हुई अंगूठी। बोलने में उबासी आ रही थी, मानों कहीं से थक कर आया हो, और सोने की तैयारियां कर रहा हो। कुछ गुस्सैल स्वभाव—मानों सारा संसार उसके रूप की हाट में रेहन रखा हो। गर्व से कुछ बनकर, कुछ मटक कर चलने की आदत। बैलों जैसे कांधे हिलें, और हाथी जैसे बेकाबू पांव धूलवाली सड़क पर पड़े कि धुएं जैसी कुछ धूल मुंह तक उड़े, और अंगारे जैसे पांवों पर कुछ धूल राख जैसी चढ़ जाय। आदमी होकर, ज़रा में चिढ़ पड़ने, और थोड़े में रो पड़ने की आदत। झट से चमक उठने का

स्वभाव। अपनी औरों पर की हुई भलाइयों की लांबी फेहरिस्त अपनी स्मृति की जेब में ; किन्तु उससे दस गुनी बड़ी औरों द्वारा अपने पर किये गये अपकारों की फेहरिस्त। और इस बात का अल्हड़ अज्ञान कि अपकारों के औरों द्वारा होने पर भी, उपकारों की फेहरिस्त अपनी ही तबीयत में छोटी होने के क्या मानी होते हैं। बनकर, सजधज कर, शहर की बीच सड़क पर से निकलने का स्वभाव। विदेशी व स्वदेशी और सर्वदेशी के भाव से परे, बिलकुल ठेठ देशी। बो पतली लाल किनारेदार, पर दाहिने घुटने पर पैवन्द वाली धोती। कुरता ज़रा कुछ मैला सा, पर सफेद मलमल का, जिसके नीचे लाल रेशम की जाकिट। सफेद कुरता मैल से, और रेशम की जाकिट से संयुक्त झांई खाकर, सफेद कम दीखे, बेंगनीज्यादः। पान ठूंसकर खाने, उसकी लाली की अंगुलियां दीवारों पर पोछने, और उससे बिगड़े ओंठ, कुरते से संभाल कर पोंछने की दक्षता! ओंठों पर पानी। मूछों का कुछ-कुछ आरोप-सा हो ऐसी उम्र,—शायद मरदाने कपड़े बदन पर होने के कारण। भोपाली ज़ुल्फ़ रखने की खबरदारी, और मुड़ी ज़ुल्फ़ के गालों पर आने पर, उन्हें मुड़ा हुआ रखने के लिये, पीले चन्दन की, दोनों गालों पर दो बूंदें। सिर पर पाग, ज़रा टेढ़ी, बनक कुछ इन्दौरी। रियासत अनुराधापुर के निवासियों के सर पर प्रायः ऐसी ही पाग होती है। पाग का रंग मोतिया, पीलेपन की झांई मारता हुआ। किन्तु उसकी नोक पर, कपाल पर लटकने वाली नई सभ्यता की 'द्वितीय चोटी' की कृपा से, तेल की कालिमा। दांतों में, सोने की कीलें। हाथ में, अंगुलियों की पोरों पर मेंहदी लगी हुई। प्रश्न पूंछने पर, गुर्राकर घूरने, उपेक्षा से जवाब देने, और फिर शरमा जाने का लहज़ा। हाथ में बुंदेलखंडी लाठी ; पूरबी नहीं जिसमें ऊंची गांठें होती हैं, और नीचे लोहे की सिमियां लगी होती हैं। सीधी, सादी, पीली लाठी ; जिसमें ऊपर सूत का, श्रावण की राखी फैशन का, रंगीन बुंदा लगा हुआ, और बीच बीच में चार चमड़े के बन्द लगे हुए। ठिगना क़द, उम्रको छुपाने का संयुक्त हथियार सा ; आकर्षण का विक्रम अमर रखने का रामबाण नुसखा सा। देखने में गुस्सा, किन्तु बोलने में मुसकाहट ; मानों सतपुड़ा की इन दो घाटियों के बीच, कोई समथल ज़मीन ही न हो, जहाँ स्टेशन बन सके और आदत की गाड़ी ठहर सके। पड़ोस में रहने वाले जासौन गांव के मालगुज़ार के बिगड़ैल लड़के द्वारा

फेंके हुए, कागज़ के चित्रों वाले सिगरेट केसों को जेब में संभाल कर रखने की सावधानता। कपड़े रंगने और उन्हें संवारने की अच्छी थियोरेटिकल जानकारी, और उस पर जहाँ तहाँ मुंह मारना। गुलेल रखने और उसे अपनी नज़र ही की तरह, बेगुनाहों पर, छुपकर आज़माने की कुछ सफल, और अधिक असफल आदत।

और यह कहानी, मैं उन लोगों के लिये तो लिख ही नहीं रहा, जिन्हें दुनियां में फ़ुरसत नहीं है; या फ़ुरसत कम है। इसका चरित्र नायक कोई हो, पाठक किसी को भी मानें, किन्तु इसका पाठक, और इसकी आत्मा तो वही हों, जिसे जल्दी नहीं पड़ी है।

हां तो, कपड़े रंगने की जानकारी, मगर जात तेली। नाम भोला, वल्द बच्चू साकिन अनुराधापुर राज का अनुराधापुर शहर। किराये से गाड़ी चलाने का रोज़गार। अनुराधापुर, गांव होकर, 'राज' होने से शहर। महल में शहर चमके, सड़कों पर गांव। रेल से दूर—६७ मील। हीरापुर स्टेशन से बैलगाड़ी चौथे दिन पहुँचे। सडक कच्ची।

( २ )

तो सुस्ती किस बात की आती है? नसीबन ने कहा, ज़रा संभल कर यों सोचते हुए, मानों अपना हक़ आज़माती हो।

रमज़ान बोला, तुम तो बस वैसी ही हो, बेल जैसी—बेर देखा न बबूल, सर चढ़ने को दौड़ पड़ीं।

जो लिपटता है, वह तो सर तक चढ़ेगा ही। कांटे में बदन कंटवाना, क्या कोई यूंही अपना रोज़गार बनायेगा। दस बीस चुभने वाली बातें सुनाते हो, और फिर सफेद लम्बी डाढ़ी हिलाकर मुसकरा देते हो—यह सर चढ़ाने का न्यौता जो देते हो—अरे हां। जानते हो, आखिर लड़का है! उसमान फ़ौत हुआ है, तब उसे मुंह लगा रखा है। और आज ज़रा सी बात पर उसे नाराज करते हो। खिलौना तुम न ले दोगे, तो कौन ले देगा?

रमज़ान रंगरेज है। नसीबन उसकी स्त्री है—रंगरेज़िन। उनके एक ही एकलौता लड़का था—उसमान। कोई ११ बरस हुए, वह आठ बरस की उमर में मर गया। करीमन, उसमान की मां, और रमज़ान की दूसरी औरत,

सौर से बाहर होते ही मर चुकी थी। उसमान को, उसकी 'बड़ी मां' नसीबन ने पाला था। उसमान के मरने के बाद, रमज़ान की तबीयत कहीं नहीं लगती थी। वह कपड़े रंगता तो, हौजों के बने रंग की तरफ ही देखता रहता, और तीसरे पहर से शाम हो जाती। रंगे कपड़े सुखाते समय दरख्तों की तरफ देखता तो उनकी डालियों, उनके पत्तों, और दरख्त पर बैठे पक्षियों की तरफ ही देखता रह जाता। नसीबन ने देखा, पुत्र शोक, एक ऐसा नाला है, जो उतरती उम्र के रमज़ान से लांघा न जायगा। उसने रमज़ान की याद के पैर रखने, और संकट के आरपार आने जाने के लिये, एक सजीव बुत ढूंढ़ दिया। वह था—बच्चू तेली का लड़का भोला। बड़ी बड़ी आंखें, गोरा बदन, कोई १०-११ बरस की उमर। रमज़ान से बाबा कहता। और मुहल्ले में यदि कोई उसे डांटता तो रमज़ान से आकर लिपट जाता। एक खूंटे से बंधते बंधते पशुओं को, घर और घरवालों से मुहब्बत हो आती है; भोला तो आदमी का बेटा था।

( ३ )

अब भोला बीस वर्ष का हो चला था। वह रमज़ान से जब बोलता, अधिकार की भाषा में। रमज़ान दिन भर उससे विनोद करता रहता। विनोद ऐसी तदबीर की, जिससे भोला की बेवकूफ़ी की बातें टालने में सहारा मिलता, देरी से की जा सकने वाली बातों को जल्दी से करने की जिद्द करनेपर देरी लगाने के लिये समय निकल आता, और किसी अटपटी और अनहोनी सी बात की जिद यदि भोला करता, तो विनोद वह समय का वह खाली मैदान था, जो समस्याओं पर सोचने और उन्हें सुलझाने का समय दे देता। विनोद, अकरणीय कार्यों पर, न करने की बात कहने पर, जी पर ठेस न लगने देने, अधिकार का सिंहासन डांवाडोल न होने देने, और चेहरे पर गुस्से से शिकन न पड़ने देने का मुलायम मसाला था।

भोला को उसके एक दोस्त ने न्योता दिया है कि, अनुराधापुर रियासत से लगी, विशाखापुर रियासत के एक गांव, सोनामाठी को, वह अपने दोस्त की बारात में जावे। तारुण्य, बारात में जाना, मित्र का न्योता, जाति में 'कुछ हूं' दिखलाने की साध, और खूबसूरती—इन सब के साथ अगर हो चरम दारिद्र्य, तो वह

गांवों-खेड़ों की, खून में रवानी और बदन पर मांस रखने वाली तरुणाई को, मौत के घाट ले जाने तक विद्रोहिनी बना डालता है! भोला, अपने चाचा के यहाँ रहता था, जो ग़रीब था, और चोरी के अपराध में दो बार सज़ा पा चुका था। उसके न मां थी, न उसके बाप था। नसीबन ही उसकी अम्मा थी, और रमज़ान उसका बाबा। अधिकार की यह बुरी आदत है कि वह अपनी मर्यादा सदैव ही लांघता आया है।

आज, रमज़ान से भोला ने कहा—बाबा, आज हमारी पगिया रंग दो!

'वाह रे लाट साहब के बेटे, न ढंग के कपड़े, न पैरों में जूतियां और पगिया रँग दो!' जवाब पाया।

ना बाबा, जूतों में तो तेल देकर रख दिया है। जूते तो खरीद लिये। कपड़े की रेशम की 'जाकट' क्या बुरी है—हां, मलमल का कुरता मैला है, उसे मैं धो लूंगा। न हो, उसे भी तुम रँग दो।

रँग दो! अरे लाट साहब, शादी तेरी है, या तेरे दोस्त की! व्याह में रँगा कुरता तो दूल्हा पेहना करता है। तेरा कुरता कैसे 'रँग दूँ'। बारात में जाकर तो तू दुलहिन मांगने लगेगा।

भोला या तो खुश होना जानता था, या गुस्सा होना। विवेक का कोई मध्य बिन्दु उसके स्वभाव के ठहरने के लिये न था! उसने अपनी बाजी गिरती देख, नसीबन से कहा—देखा न अम्मा तुमने! आज बाबा, मेरी बात के पैर न जमने देंगे।

रमज़ान ने क़हक़हा लगाया—अरे तेरी बात के पैर न सिर, जमें तो कौन जमें, और कैसे जमें।

नसीबन ने कहा—अच्छा कुरता न रँगो। वह दूल्हा ही का रँगा रहने दो। पगिया तो उसकी रँग दो।

और भोला की ओर मुखातिब होकर कहा—बेटा, तेरी पाग ले आ।

पुरुष पर स्त्री के अधिकार की बात पर, मानव जन्म से ही विश्वास करता है। भोला तो बरसों की २० वीं २१ वीं सीढ़ी पर था।

नसीबन उठी, उसने हुक्के में तम्बाकू भरी। अंगारे चढ़ाये। हुक्के की

नाल, अपनी ही फूंक से ठीक की। और रंगीन घर की उस साम्राज्ञी ने तम्बाकू की वह नियामत अपने बूढ़े सम्राट् के सामने पेश की।

रमज़ान ज़रा खांसा, फिर उसने अपना मुंह अपने गले पर पड़े गमछे से पोंछा, और हुक्के की गुड़गुड़ी मुंह में लेकर धीरे धीरे इस तरह गुड़गुड़ाने लगा, मानों जाड़े के दिनों, देर से लौटकर आया हुआ कबूतर, अपने घोंसले में, अपने परिवार को पंखों में दबा, प्यार से गुरगुरा रहा हो।

बचपन में, एक स्वस्थ बच्चा, अनेक बड़े आदमियों की दौड़ और फुर्ती अपने में रखता है। हुक्के की तम्बाकू अभी सुलगी भी न थी, कि भोला अपनी पाग लेकर आ गया। और उसे रमज़ान के पैरों पर फेंक दिया—मानों वह उसकी आत्ममर्यादा हो, जो पगिया रँगवा लेने के लिये रिश्वत की तरह, पैरों पर बिखेरी गयी हो।

रमज़ान ने हुक्के की गुड़गुड़ी मुंह से न हटाते हुए, पाग समेठी, और उपेक्षा से नसीबन की तरफ़ फेंकी। और कहा—यही आठ-नौ जगह फटी पगिया है न, जिसे महज़ अच्छा रँग देने से वह इस तेली के बेटे को, ब्याह में रँगीला दीखने वाला छैला बना देगी।

देखो अम्मा, बाबा कैसी बातें करते हैं—भोला ने कुढ़ कर कहा। और आंसू बहाते हुये अपनी पाग ख़ुद समेठने लगा।

नसीबन बोली—ठहर, ज़रा ठहर तो। आंसुओं से रँगने से तो यह पाग, रंगीन होने से रही। इसे तो रँग से ही रँगना होगा। अच्छा कौनसा रँग चाहिये पाग का?

भोला बोला—बनिया बैठने तो देता नहीं, और कहे झुकता सा तौलना! बाबा कुछ बोलें भी तो!

अरे तो बाबा के बेटे, आज तो रँग तैयार नहीं है। रँग के तैयार करने में चौबीस घण्टे लगेंगे। वक्त की घड़ियां भी क्या कोई बिस्तरा है, जिसे जब चाहा लपेट लिया, और जब चाहा फैला दिया! और तेरी अम्मा क्या हो गई—

मैंने तो अभी कुछ नहीं कहा—नसीबन ने ज़रा तमक कर कहा। यह चीनी मिट्टी की मांठ में रँग तैयार जो रखा है?'

रमज़ान, ज़रा खांसकर बोला—वह तो मोतिया रँग है।

भोला का मन, निराशा के बरसाती नाले में डूबते, थाह पागया। बोला—मुझे भी तो मोतिया रँग का ही पाग चाहिये।

नसीबन बोली—लो अब तो रँग दो।

रमज़ान ने हुक्का हटा दिया। और अपनी मिरजई के बन्द खोलते हुए बोला—भोला लड़का है। मगर तुम तो नन्हीं नहीं हो। जानती हो कि वह चीनी मट्टी की मांठ है। रियासत के फरमांरवा की पागें रँगने के लिये वह रँग तैयार किया गया है। घोड़ा बादशाह का हिनहिनाये और कल्लू मोदी अपनी खुड़जी उस पर रखने दौड़े,—अजब मसल है! भोला को बारात में क्या जाना है, तुम्हें उसे सिंगारने के लिये चारों खूंट जागीर भी छोटी मालूम होती है।

नसीबन ने, पगिया उठाई और पानी में भिगोने लगी।

भोला बोला—अम्मा, मैं एक तो पगिया मोतिया रँग में रँगवाऊँगा, दूसरे बाबा जान, मुझे मेरी पाग वैसे ही बाँध कर देंगे, जैसी नवाब साहिब की पागें बांधा करते हैं और तीसरे स्वयं बाबा रँगेंगे, तो पगिया रँगी जायगी—नहीं तो भोला बारात न जायगा।

सन्धि की शर्तें रख दी गईं। बूढ़ा रमज़ान, अपना निर्मल हास्य बखेर कर बोला—बादशाह सलामत की पाग, भिनसारी रात रँगी जायंगी। और तेरी तो पहले रँगी जानी चाहिये। फिर नसीबन से बूढ़ा बोला—यह क्या मज़ाक करती हो? यह पगिया कैसे रँगी जायगी?

नसीबन बोली—नवाब साहब की पगिया ज़िन्दगी भर रँगी है, और ज़िन्दगी भर रँगेंगे। क्या उस रँग में एक डोब, किसी ग़रीब की पगिया को नहीं मिल सकता? और आखिर नवाब साहब की पागें भी तो तुम्ही बंधी-बंधाई, डब्बों में बन्द करके दोगे? तब क्यों न तुम, एक पाग इस 'छोरे' की, उसी ढब पर बांध दो।

रमज़ान चिढ़ा—बोला औरत जात जो हो! क्या जानो नमक की क़ीमत, और रोटियों के हीले को। मैं तो रईस की पाग के रँग में, भोला की पाग नहीं डुबोऊँगा।

नसीबन ऐसे चौंकी, जैसे उसकी आंखें खुल गईं। बोली तुम मर्द हो।

और भोला की पाग उठाकर गीली ही, भोला के पास फेंक दी। और कहा जा रे बेटा। बिना माँ बाप के छोरों को, पाग रँगते वक्त रँगरेज़ भी यह मालूम कर देना चाहते हैं, कि वे बिना माँ बाप के हैं, और ग़रीब हैं। ग़रीब, ग़रीब को धुतकारे, और अमीर अमीर की सी कहे, इसे दुनियां कहते हैं।

भोला के मुंह को लकवा मार गया। गीली पाग, नसीबन की देहरी पर ही पड़ी छोड़कर वह चुपचाप चला गया।

( ४ )

रमज़ान बोला—लड़के की आंखों पर गुस्सा भरा था।

नसीबन ने कहा—गुस्सा किस पर करेगा अभागा।

रमज़ान—क्यों?

नसीबन—पूंछते क्यों हो? पगड़ी पीछे बारह आने ही तो मिलते हैं। इन पैसों भी क्या भोला महंगा है?

रमज़ान—वह रईस है। उसके रंग में मैं इसकी पाग कैसे डुबा दूं?

नसीबन—कैसे? वैसे ही, जैसे मैं ज़रूरत पड़ने पर अपने बेटे उसमान की पाग डुबो देती। उसमान—

बूढ़ा हिल उठा—उसमान!

नसीबन ने कहा—भोला ने तुमसे उसमान का दुलार पाया है। तब पाग रँगवाने और बंधवाने कहां जावे।

( ५ )

दलील वज़नदार थी। हाईकोर्ट का फ़ैसला था। दावा मय खर्च के स्वीकृत हो गया।

* * * * *

अनुराधापुर के रईस, सोनामाटी के पास के अपनी रियासत के गांव, गोलन डोह से शिकार करके लौट रहे थे। नवाब साहब के साथ, धारनीगढ़ के राजा शार्दूल सिंह, दो शिकारी, दो सरदार, और एक घुड़सवारों की टुकड़ी थी। जो मोहनपुर के नाले से, सरकारी सवारी गुज़र रही थी, तब बैलगाड़ियों के पास खड़े

लोगों के झुण्ड के बीच, एक गोरे से छोकड़े को उन्होंने अपनी सी, ठीक अपनी सी पाग बांधे देखा। पाग का बांध वही था, बनक वही थी, पेच वैसे ही कसे थे, रंग भी वही था। रईस ने अपने सर से पाग उतारी और देखा। यह रईस की पाग थी, जो सर से उतर रही थी। दोनों मिलाया! दो पागें, एक भीड़ में खड़े किसी खूबसूरत उठाईगीरे की और दूसरी अपनी दोनों, आपस में, अगर राई बढ़ती न थीं, तो तिल घटने के लिये भी तैयार न थीं। दुखती चोट, और अनहोना दुर्भाग्य मानों ऐसी चीजें हैं जो होकर रहें। जब रईस ने अपनी पाग उतारी तब भोला मुसकरा दिया। दो घंटे के बाद जिबह किये जाने वाले जानवर भी हरी घास को, बड़े स्वाद से खाते हैं।

एक सिपाही घोड़े से उतरा। उसने नाले की घाटी पर चढ़ती हुई बैलगाड़ियों को रास्ते ही में ठहराया। उन सब गाड़ियों में तीन ऊपर चढ़ चुकी थीं। दो घाटी से फिसलकर नाले में वापस नीचे आ गिरी थीं। और दो अभी चढ़ी ही न थीं। अब इसके बाद से पूंछ तांछ शुरू हुई।

किस गांव की बारात है?

अनुराधापुर की ग़रीब परवर!

कौन ज़ात हो?

तेली सरकार!

क्या पेशा करते हो?

अपना ही पेशा—तेल बेंचते हैं!

कहां जा रहे हो?

घर—अनुराधापुर ही तो चल रहे हैं।

फिर, मोतिया पाग के छैल छबीले की तरफ घूम कर, सिपाही पूछने लगा—

तू कहां रहता है बे लौंडे?

वहीं अनुराधापुर!

किसका लौंडा है?

तेली का लड़का हूँ।

क्या नाम है तेरा?

भोला।

बाप का नाम ?

बच्चू।

तेरा बाप क्या करता है ?

दूल्हे के बाप ने, बीच ही में कहा, इसके मां बाप कोई नहीं है सरकार। ग़रीब है बेचारा।

सिपाही ने फिर पूछा--

तेरी पाग किस रँगरेज़ ने रँगी है बे ?

रमज़ान बब्बा ने।

सिपाही ने झट से पाग उतारी और एक सा रंग, एक सी बनक, एक सी सुन्दरता देखकर भी यह ग़रीब की पाग थी, जिसे सिर से सदा के लिये उतारते हुये भी, सिपाही के हाथ में, झिझक की जगह न थी ! सिपाही ने घूर कर लड़के को इस तरह देखा, मानों खा जायगा। भोला सहम गया।

दोपहर होता आ रहा था। मज़दूर, खेतों में गेहूँ काटने में जुटे हुए थे। छोटे बच्चे, पशु-धन को पानी पिलाने नाले पर ले जा रहे थे। आमों के बौर महक भी रहे थे, और झर भी रहे थे। सड़क की धूल उड़कर राहगीरों के मुंह, उनकी आंखों और आंखों की पलकों के बालों तक को मटमैला किये हुए थी। गांव की मज़दूरिनें, गेहूं की पूलें बांधते हुए गा रही थीं—

जी में एक पहेली दूखी
दुनिया आज हरी कल सूखी।

और शास्त्रों को रटे हुए पण्डित जी गेहूँ के फूलों की भीख मांगते हुए, एक हाथ में सुलगी हुई चिलम और बगल में डंडा दबाये अपने ज्ञान को तुलसी की इस वाणी के द्वारा औंधाये चले जा रहे थे।

धरा को सुभाव इहै तुलसी
जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना

और खेतों में, छोटे छोटे बच्चे, वृक्षों पर चहकते पक्षियों को ढेले मार मार कर उड़ा रहे थे। हर इंच, हर मंज़िल, दर पर दर, और पग पर पग, मौसम की तरह बैलगाड़ियां धीरे धीरे चली जा रही थीं।

( ६ )

सीतलासहाय कांस्टेबल रमज़ान को खोजता हुआ बोला—चलो अब्बा तुम्हें दरबार ने बुलाया है!

नसीबन ने पूछा—क्या नवाब साहब बहादुर आ गये।

सिपाही—हां, अभी लौटे हैं।

रमज़ान—हमारा रईस बड़ा नामी है। परसूं कहीं पागें देखीं, तबियत बहाल हो गई। फरमाया—इस बार पागों की रँगाई नहीं मिलेगी, इनाम मिलेगा। रमज़ान बब्बा, धारनीगढ़ के राजा साहब, इन पागों की रँगाई-बंधाई देखकर बाग़ बाग़ हो गये हैं। कल आकर इनआम ले जाना। सो उसी का बुलावा आया दीखे है। यह कहकर, कांस्टेबल से कहा—हवालदार साहब, बैठो, चलता हूँ।

हवलदार बोला—सरकार ने जल्दी ही याद किया है। चलो वे इस वक्त दफ्तर में हैं।

रमज़ान ने मिरजई पहनी। वह उसके पास उसके ईमान की तरह एक थी। सिर पर, उसकी बात की तरह एक ही रँग चढ़ा था और उसके अनुभव की तरह पुरानी थी। और डाढ़ी पर हाथ फेर कर, वह अपने पेट की मज़दूरी की लाचारी से रँगे हाथों, चल पड़ा महल की तरफ।

* * * * *

फरमा रवां, कुर्सी पर बैठे थे। और एक टेबल पर सजाकर ६ पागें रखी थीं। कहना न होगा, कि इन छै पागों में से रईस की एक पाग, हटा दी गई थी, और भोला के सर से उतारी हुई पाग, इनमें मिला कर रख दी गई थी। नवाब साहब ने पूछा—ये सब पागें हमारी ही हैं न रमज़ान?

रमजान—आप ही की तो दीखती हैं हुज़ूर। छै पागें ही तो परसूं रंग कर, ख़ादिम दे गया था।

नवाब—तब, तुम चोर हो, बेईमान हो।

रमजान का स्वभाव, इस वक्त आंवलों की मोट था, जो फैल गया था, और समेंटे न सिमट रहा था। उसने धीरज संभाला और कहा—

रमजान ने हु.जूर का नमक खाया है। उसकी पीढ़ियों में बेईमानी नहीं है।

नवाब—दरबार के पागों की धुलाई रँगाई बँधाई तुम्हें क्या दी जाती रही है ?—

रमज़ान—बारह आना फ़ी पाग ग़रीब परवर।

नवाब—और उस तेली के लौंडे ने क्या धुलाई दी थी ?

रमजान की गांठ अब सुलझ गई। वह धीरज से बोला—हुजूर वह छोटा सा बच्चा है।

धरनीगढ़ के राजा ने इसी वक्त कहा—आपका रंगरेज़ आपको भी छोटा बच्चा समझता है, और बहलाने की कोशिश कर रहा है !

नवाब—बेईमान, साफ़ साफ़ बता। तेली के लौंडे की पाग का रंग, और बनक, दरबार की पाग के रंग की क्यों है ?

रमज़ान— खता माफ हो सरकार, यह नमक का, रोटियों का, रंग है, और वह मुहब्बत का रंग है। वह मेरे बेटे की तरह है।

इरादों के काले, ज़बान के ख़ूंखार, क़लम के शाहंसा; पैसों के भरपूर, रहम के खाली, और टूट पड़ने में जंगली जानवर को अधिकारी कहते हैं।

घोड़े का हंटर उठा नवाब ने कहा—मुहब्बत का रंग, हरामज़ादे। ले तुझे इस शायरी का मज़ा चखाऊँ।

रमज़ान ने छत की तरफ देखा—मानो शैतान के घर में खुदा को ढूंढ़ रहा हो। सिर ऊँचा किया—मानो प्रेम सर्वनाश के समय भी दामों से ऊपर उठ कर खड़ा रहना चाहता हो।

रमज़ान ने कहा—माफ़ करो ग़रीब परवर, ग़रीबों को बेटे बेटी समझें अन्नदाता। रईस, समुद्र की तरह इस समय, अपने आवेश में खुद डूब चुका था। रमज़ान पर—

हंटर, फिर हंटर, फिर हंटर ! रमज़ान खड़ा रहा। महल के पत्थर पिघल उठना चाहते थे। सारे अधिकारी मानो सोचते थे कि आज राजधानी के सुहाग इन्साफ़ पर हंटर पड़ रहे हैं। पर बिकी जीभ, और कायर कलेजे से टुकुर-टुकुर देख रहे थे।

चोर हमारी पाग चुराकर उस तेली के लौंडे को दे दी ?

रमज़ान धक्के मार कर निकाल दिया गया। उसकी मिरजई खून से लथ-पथ थी।

मसजिद में नमाज पढ़ी जा रही थी। मंदिर में पूजन हो रहा था। गिरजा घर का घंटा बज रहा था। और रमज़ान अनुराधापुर की सड़क पर इस तरह जा रहा था, मानो हिमालय शिखर से ठुकराया हुआ हिमखंड है, जो गंगा बनता चला जा रहा हो।

गाड़ियां लौटीं कि, खबर देने भोला, रमजान बब्बा के घर गया। कान्स्टेबल द्वारा बुलावा सुनते ही वह राजमहलों की ओर दौड़ा।

रास्ते में लड़खड़ाता, कराहता, और आंसू और खून साथ साथ टपकाता रमज़ान मिल गया। उसे खून से लथ-पथ देख कर भोला उसके पैरों में लिपट कर बोला—यह क्या है बाबा—

रमज़ान बोला—मुहब्बत का रंग ऐसा ही हुआ करे है बेटा!

—माखनलाल चतुर्वेदी

---

## अपना अपना भाग्य

१

बहुत कुछ निरुद्देश्य घूम चुकनेपर हम सड़कके किनारेकी एक बेंचपर बैठ गये।

नैनीतालकी संध्या धीरे-धीरे उतर रही थी। रुईके रेशे-से, भाप-से, बादल हमारे सिरोंको छू-छूकर बेरोक घूम रहे थे। हलके प्रकाश और अँधियारीसे रंगकर कभी वे नीले दीखते, कभी सफेद और फिर जरा देरमें अरुण पड़ जाते। वे जैसे हमारे साथ खेलना चाह रहे थे।

पीछे हमारे पोलोवाला मैदान फैला था। सामने अँग्रेजोंका एक प्रमोद-गृह था जहाँ सुहावना-रसीला बाजा बज रहा था और पार्श्वमें था वही सुरम्य अनुपम नैनीताल।

तालमें किश्तियाँ अपने सफेद पाल उड़ाती हुई एक-दो अँग्रेज यात्रियोंको लेकर, इधरसे उधर खेल रही थीं और कहीं कुछ अँग्रेज एक-एक देवी सामने प्रतिस्थापित कर,अपनी सुई-सी शक्लकी डोंगियोंको मानों शर्त बाँधकर सरपट दौड़ा रहे थे। कहीं किनारेपर कुछ साहब अपनी बन्सी पानीमें डाले सधैर्य, एकाग्र, एकस्थ, एकनिष्ठ मछली-चिन्तन कर रहे थे।

पीछे पोलो-लॉनमें बच्चे किलकारियाँ भरते हुए हॉकी खेल रहे थे। शोर, मार-पीट, गाली-गलौज भी जैसे खेलका ही अंश था। इस तमाम खेलको उतने क्षणोंका उद्देश्य बना, वे बालक अपना सारा मन, सारी देह, समग्र बल और समूची विद्या लगाकर मानो खत्म कर देना चाहते थे। उन्हें आगेकी चिन्ता न थी, बीतेका ख्याल न था। वे शुद्ध तत्कालके प्राणी थे। वे शब्दकी सम्पूर्ण सचाईके साथ जीवित थे।

सड़कपरसे नरनारियोंका अविरत प्रवाह आ रहा था और जा रहा था। उसका न ओर था न छोर। यह प्रवाह कहाँ जा रहा था और कहाँसे आ रहा था, कौन बता सकता है? सब उम्रके सब तरहके लोग उसमें थे। मानो मनुष्यताके नमूनोंका बाज़ार, सजकर, सामनेसे इठलाता निकला चला जा रहा हो।

अधिकार-गर्वमें तने अँग्रेज उसमें थे, और चिथड़ोंसे सजे, घोड़ोंकी बाग थामे वे पहाड़ी उसमें थे, जिन्होंने अपनी प्रतिष्ठा और सम्मानको कुचलकर शून्य बना लिया है, और जो बड़ी तत्परतासे दुम हिलाना सीख गये हैं।

भागते, खेलते, हँसते, शरारत करते, लाल-लाल अँग्रेज बच्चे थे और पीली-पीली आँखें फाड़े, पिताकी उँगली पकड़कर चलते हुए अपने हिन्दुस्तानी नौनिहाल भी थे।

अँग्रेज पिता थे जो अपने बच्चोंके साथ भाग रहे थे, हँस रहे थे और खेल रहे थे। उधर भारतीय पितृदेव भी थे, जो बुजुर्गीको अपने चारों तरफ़ लपेटे धन-सम्पन्नताके लक्षणोंका प्रदर्शन करते हुए चल रहे थे।

अँग्रेज रमणियाँ थीं, जो धीरे नहीं चलती थीं, तेज चलती थीं। उन्हें न चलनेमें थकावट आती थी, न हँसनेमें लाज आती थी। कसरतके नामपर घोड़ोंपर भी बैठ सकती थीं, और घोड़ेके साथ-ही-साथ, जरा जी होते ही, किसी हिन्दुस्तानीपर भी कोड़े फटकार सकती थीं। वह दो-दो, तीन-तीन, चार-चारकी

टोलियोंमें निश्शंक, निरापद, इस प्रवाहमें मानो अपने स्थानको जानती हुई, सड़कपरसे चली जा रही थीं।

उधर हमारी भारतकी कुल-लक्ष्मियाँ, सड़कके बिल्कुल किनारे-किनारे, दामन बचातीं और सम्हालती हुई, साड़ीकी कई तहोंमें सिमट-सिमटकर, लोक-लाज, स्त्रीत्व और भारतीय गरिमाके आँनर्सको अपने परिवेष्टनोंमें छिपाकर, सहमी-सहमी धरतीमें आँख गाड़े, कदम-कदम बढ़ रही थीं।

इसके साथ ही भारतीयताका एक और नमूना था। अपने कालेपनको खुरच-खुरचकर बहा देनेकी इच्छा करनेवाले अँग्रेजी-दाँ पुरुषोपम भी थे, जो नेटिवको देखकर मुँह फेर लेते थे और अँग्रेजको देखकर आँखें बिछा देते थे, और दुम हिलाने लगते थे। वैसे वह अकड़कर चलते थे,—मानो भारतभूमिको इसी अकड़के साथ कुचल-कुचलकर चलनेका उन्हें अधिकार मिला है।

२

घण्टेके घण्टे सरक गये। अंधकार गाढ़ा हो गया। बादल सफेद होकर जम गये। मनुष्योंका वह ताँता एक-एककर क्षीण हो गया। अब इक्का-दुक्का आदमी सड़कपर छतरी लगाकर निकल रहा था। हम वहींके-वहीं बैठे थे। सर्दी-सी मालूम हुई। हमारे ओवरकोट भीग गये थे।

पीछे फिरकर देखा। वह लॉन बर्फकी चादरकी तरह बिल्कुल स्तब्ध और सुन्न पड़ा था।

सब सन्नाटा था। नैनीतालकी बिजलीकी रोशनियाँ दीप-मालिकासी जगमगा रही थीं। वह जगमगाहट दो मील तक फैले-हुए प्रकृतिके जलदर्पणपर प्रतिबिम्बित हो रही थी। और दर्पणका काँपता हुआ, लहरें लेता-हुआ वह तल उन प्रतिबिम्बोंको सौ-गुना हजार-गुना करके, उनके प्रकाशको मानो एकत्र और पूंजीभूत करके व्याप्त कर रहा था। पहाड़ोंके सिरपरकी रोशनियाँ तारों-सी जान पड़ती थीं।

हमारे देखते-देखते एक घने पर्दे ने आकर इन सबको ढँक दिया। रोशनियाँ मानो मर गईं। जगमगाहट लुप्त हो गई। वह काले-काले भूत-से पहाड़ भी इस सफेद पर्देके पीछे छिप गये। पासकी वस्तु भी न दीखने लगी। मानो यह

घनीभूत प्रलय थी। सब कुछ इस घनी, गहरी सफेदीमें दब गया। जैसे एक शुभ्र महासागरने फैलकर संसृतिके सारे अस्तित्वको डुबो दिया। ऊपर नीचे, चारों तरफ, वह निर्भेद्य, सफेद शून्यता ही फैली हुई थी।

ऐसा घना कुहरा हमने कभी न देखा था। वह टप-टप टपक रहा था।

मार्ग अब बिल्कुल निर्जन, चुप था। वह प्रवाह न जाने किन घोंसलोंमें जा छिपा था।

उस बृहदाकार शुभ्र शून्यमें, कहींसे ग्यारह बार टन्-टन् हो उठा। जैसे कहीं दूर कब्रमेंसे आवाज आ रही हो!

हम अपने-अपने होटलोंके लिए चल दिये।

३

रास्तेमें दो मित्रोंका होटल मिला। दोनों वकील मित्र छुट्टी लेकर चले गये। हम दोनों आगे बढ़े। हमारा होटल आगे था।

तालके किनारे-किनारे हम चले जा रहे थे। हमारे ओवरकोट तर हो गये थे। बारिश नहीं मालूम होती थी, पर वहाँ तो ऊपर-नीचे हवाके कण-कणमें बारिश थी। सर्दी इतनी थी कि सोचा, कोटपर एक कम्बल और होता तो अच्छा होता।

रास्तेमें तालके बिल्कुल किनारे एक बेंच पड़ी थी। मैं जीमें बेचैन हो रहा था। झटपट होटल पहुँचकर, इन भीगे कपड़ोंसे छुट्टी पा, गरम बिस्तरमें छिपकर सो रहना चाहता था। पर साथके मित्रकी सनक कब उठेगी, और कब थमेगी—इसका क्या कुछ ठिकाना है! और वह कैसी क्या होगी—इसका भी कुछ अंदाज है! उन्होंने कहा—आओ, जरा यहाँ बैठें।

हम उस चूते कुहरेमें रातके ठीक एक बजे, तालाबके किनारेकी उस भीगी, बर्फीली, ठंडी हो रही लोहेकी बेंचपर बैठ गये।

५—१०—१५ मिनट हो गये। मित्रके उठनेका इरादा न मालूम हुआ। मैंने खिझलाकर कहा—

"चलिए भी..."

"अरे, जरा बैठो भी..."

हाथ पकड़ कर जरा बैठनेके लिए जब इस ज़ोरसे बैठा लिया गया, तो और चारा न रहा—लाचार बैठ रहना पड़ा। सनकसे छुटकारा आसान न था, और यह जरा बैठना भी जरा न था।

चुप-चुप बैठे तंग हो रहा था, कुढ़ रहा था कि मित्र अचानक बोले—

"देखो, वह क्या है?"

मैंने देखा—कुहरेकी सफेदीमें कुछ ही हाथ दूरसे एक काली सी मूरत हमारी तरफ बढ़ी आ रही थी। मैंने कहा—होगा कोई।

तीन गज दूरीसे दीख पड़ा, एक लड़का सिरके बड़े बड़े बालोंको खुजलाता हुआ चला आ रहा है। नंगे पैर है, नंगे सिर। एक मैली-सी कमीज लटकाये है।

पैर उसके न जाने कहाँ पड़ रहे थे, और वह न जाने कहाँ जा रहा है—कहाँ जाना चाहता है! उसके कदमोंमें जैसे कोई न अगला है, न पिछला है, न दायाँ है, न बायाँ है।

पासकी चुंगीकी लालटैनके छोटेसे प्रकाश-वृत्तमें देखा—कोई दस बरसका होगा। गोरे रंगका है, पर मैलसे काला पड़ गया है, आँखें अच्छी बड़ी पर सूनी हैं। माथा जैसे अभीसे झुर्रियाँ खा गया है।

वह हमें न देख पाया। वह जैसे कुछ भी नहीं देख रहा था। न नीचेकी धरती, न ऊपर चारों तरफ़ फैला हुआ कुहरा, न सामनेका तालाब और न बाकी दुनिया। वह बस अपने विकट वर्तमानको देख रहा था।

मित्रने आवाज दी—ए!

उसने जैसे जागकर देखा और पास आ गया।

"तू कहाँ जा रहा है रे?

उसने अपनी सूनी आँखें फाड़ दीं।

"दुनिया सो गई, तू ही क्यों घूम रहा है?"

बालक मौन-मूक, फिर भी बोलता हुआ चेहरा लेकर खड़ा रहा।

"कहाँ सोयेगा?"

"यहीं कहीं।"

"कल कहाँ सोया था?"

"दूकानपर।"

"आज वहाँ क्यों नहीं?"

"नौकरीसे हटा दिया।"

"क्या नौकरी थी?"

"सब काम। एक रुपया और जूठा खाना।"

"फिर नौकरी करेगा?"

"हाँ..."

"बाहर चलेगा?"

"हाँ..."

"आज क्या खाना खाया?"

"कुछ नहीं।"

"अब खाना मिलेगा?"

"नहीं मिलेगा।"

"यों ही सो जायगा?"

"हाँ..."

"कहाँ?"

"यहीं कहीं।"

"इन्हीं कपड़ोंसे?"

बालक फिर आँखोंसे बोलकर मूक खड़ा रहा। आँखें मानो बोलती थीं—'यह भी कैसा मूर्ख प्रश्न!'

"माँ-बाप हैं?"

"हैं।"

"कहाँ?"

"१५ कोस दूर गाँवमें।"

"तू भाग आया?"

"हाँ।"

"क्यों?"

"मेरे कई छोटे भाई-बहन हैं,—सो भाग आया। वहाँ काम नहीं, रोटी

नहीं। बाप भूखा रहता था और मारता था। माँ भूखी रहती थी और रोती थी। सो भाग आया। एक साथी और था। उसी गाँवका था,—मुझसे बड़ा। दोनों साथ यहाँ आये। वह अब नहीं है।"

"कहाँ गया ?"

"मर गया।"

इस ज़रा-सी उम्रमें ही इसकी मौतसे पहचान हो गई !—मुझे अचरज हुआ, दर्द हुआ, पूछा—"मर गया ?"

"हाँ, साहबने मारा, मर गया।"

"अच्छा हमारे साथ चल।"

वह साथ चल दिया। लौटकर हम वकील दोस्तोंके होटलमें पहुँचे।

"वकील साहब !"

वकील लोग, होटलके ऊपरके कमरेसे उतरकर आये। काश्मीरी दोशाला लपेटे थे, मोज़े-चढ़े पैरोंमें चप्पल थी। स्वरमें हलकी-सी झुँझलाहट थी, कुछ लापरवाही थी।

"ओ-हो, फिर आप !—कहिए ?"

"आपको नौकरकी जरूरत् थी न ?—देखिए, यह लड़का है।"

"कहाँसे लाये ?—इसे आप जानते हैं ?"

"जानता हूँ—यह बेईमान नहीं हो सकता।"

"अजी ये पहाड़ी बड़े शैतान होते हैं। बच्चे-बच्चेमें गुन छिपे रहते हैं। आप भी क्या अजीब हैं—उठा लाये कहींसे—'लो जी, यह नौकर लो'।"

"मानिए तो, यह लड़का अच्छा निकलेगा।"

"आप भी . . .जी, बस खूब हैं। ऐरे गैरेको नौकर बना लिया जाय और अगले दिन वह न जाने क्या-क्या लेकर चम्पत हो जाय।"

"आप मानते ही नहीं, मैं क्या करूँ !"

"मानें क्या खाक ?—आप भी . . .जी अच्छा मजाक करते हैं। . . .अच्छा, अब हम सोने जाते हैं।"

और वह चार रुपये रोजके किरायेवाले कमरेमें सजी मसहरीपर सोने झटपट चले गये।

४

वकील साहबके चले जानेपर होटलके बाहर आकर मित्रने अपनी जेबमें हाथ डालकर कुछ टटोला। पर झट कुछ निराशभावसे हाथ बाहर कर वे मेरी ओर देखने लगे।

'क्या है?"—मैंने पूछा।

"इसे खानेके लिए कुछ देना चाहता था" अँग्रेजीमें मित्रने कहा—"मगर दस-दसके नोट हैं।"

"नोट ही शायद मेरे पास हैं;—देखूँ?"

सचमुच मेरी जेबमें भी नोट ही थे। हम फिर अँग्रेजीमें बोलने लगे। लड़केके दाँत बीच-बीचमें कटकटा उठते थे।—कड़ाकेकी सर्दी थी।

मित्रने पूछा—"तब?"

मैंने कहा—"दसका नोट ही दे दो।" सकपकाकर मित्र मेरा मुँह देखने लगे—"अरे यार, बजट बिगड़ जायगा। हृदयमें जितनी दया है, पासमें उतने पैसे तो नहीं।"

"तो जाने दो; यह दया ही इस ज़मानेमें बहुत है।"—मैंने कहा।

मित्र चुप रहे। जैसे कुछ सोचते रहे। फिर लड़केसे बोले—

"अब आज तो कुछ नहीं हो सकता। कल मिलना। वह 'होटल-डि-पब' जानता है? वहीं कल १० बजे मिलेगा?"

"हाँ...कुछ काम देंगे हजूर?"

"हाँ-हाँ ढूँढ़ दूँगा।"

"तो जाऊँ?"—लड़केने निराश आशासे पूँछा।

"हाँ"—ठंडी सांस खींचकर फिर मित्रने पूँछा—"कहाँ सोयेगा?"

"यहीं-कहीं; बेंचपर, पेड़के नीचे—किसी दूकानकी भट्टीमें।"

बालक कुछ ठहरा। मैं असमंजसमें रहा। तब वह प्रेतगतिसे एक ओर बढ़ा और कुहरेमें मिल गया। हम भी होटलकी ओर बढ़े। हवा तीखी थी—हमारे कोटोंको पारकर बदनमें तीर-सी लगती थी।

सिकुड़ते-हुए मित्रने कहा—"भयानक शीत है। उसके पास कम—बहुत कम कपड़े...!"

"यह संसार है यार!" मैंने स्वार्थकी फिलासफी सुनाई "चलो, पहले बिस्तरमें गर्म हो लो, फिर किसी औरकी चिन्ता करना।"

उदास होकर मित्रने कहा—"स्वार्थ!—जो कहो, लाचारी कहो, निठुराई कहो—या बेहयाई!"

* * * * *

दूसरे दिन नैनीताल-स्वर्गके किसी काले गुलाम पशुके दुलारका वह बेटा—वह बालक, निश्चित समयपर हमारे 'होटल-दि-पब' में नहीं आया। हम अपनी नैनीताली सैर खुशी-खुशी खतम कर चलनेको हुए। उस लड़केकी आस लगाते बैठे रहनेकी ज़रूरत हमने न समझी।

मोटरमें सवार होते ही थे कि यह समाचार मिला—पिछली रात, एक पहाड़ी बालक, सड़कके किनारे, पेड़के नीचे ठिठुरकर मर गया।

मरनेके लिए उसे वही जगह, वही दस बरसकी उम्र और वही काले चिथड़ोंकी कमीज मिली! आदमियोंकी दुनियाने बस यही उपहार उसके पास छोड़ा था।

पर बतानेवालोंने बताया कि गरीबके मुँहपर, छाती, मुट्ठियों और पैरोंपर बरफकी हलकी-सी चादर चिपक गई थी। मानो दुनियाकी बेहयाई ढँकनेके लिए प्रकृतिने शवके लिए सफेद और ठण्डे कफ़नका प्रबंध कर दिया था!

सब सुना और सोचा—अपना-अपना भाग्य!

—जैनेन्द्रकुमार

---

## विपथगा

वह मानवी थी या दानवी, यह मैं इतने दिन सोचकर भी नहीं समझ पाया हूँ। कभी-कभी तो यह भी विश्वास नहीं होता कि उस दिन की घटना वास्तविक ही थी, स्वप्न नहीं। किन्तु फिर जब अपने सामने की दीवार पर टँगी हुई वह

टूटी तलवार देखता हूँ, तो हठात् उसकी सत्यता मान लेनी पड़ती है। फिर भी अभी तक यह निर्णय नहीं कर पाया कि वह मानवी थी या नहीं...

उसके शरीर में लावण्य की दमक थी, मुँह पर सौन्दर्य की आभा थी, ओठों पर एक दबी हुई, विचारशील मुस्कान थी। किन्तु उसकी आँखें! उनमें अनुराग, विराग, क्रोध, विनय, प्रसन्नता, करुणा, व्यथा, कुछ भी नहीं थी! थी केवल एक भीषण, तुषारमय, अथाह ज्वाला!

मनुष्य की आँखों में ऐसी मृतवत् जड़ता के साथ ही ऐसी जलन हो सकती है, यह बात आज भी मेरे गुमान में नहीं आती। किन्तु आज एक वर्ष बीत जाने पर भी, मैं जब कभी उसका ध्यान करता हूँ, उसकी वह आखें मेरे सामने आ जाती हैं। उसकी आकृति, उसका वर्ण, उसकी बोली, मुझे कुछ भी याद नहीं आता, केवल वे दो प्रदीप्त बिम्ब दीख पड़ते हैं... रात्रिके अन्धकार में जिधर आँख फेरता हूँ, उधर ही, स्फटिक मणि की तरह, नीले आकाश में शुक्र तारे की तरह, हरित ज्योतिमय उसके वे विस्फारित नेत्र निर्निमेष होकर मुझ पर अपनी दृष्टि गड़ाए रहते हैं...

मैं भावुक प्रकृति का आदमी नहीं हूँ। पुराने फ़ैशन का एक दम साधारण व्यक्ति हूँ। मेरी जीविका का आधार इसी पेरिस शहर के एक स्कूल में इतिहास के अध्यापक का पद है। मैं सिनेमा-थिएटर देखने का शौकीन नहीं हूँ, न मेरा कविता में ही मन लगता है। मनोरञ्जन के लिए मैं कभी-कभी देश-विदेश की क्रान्तियों के इतिहास पढ़ लिया करता हूँ। एक-आध बार मैंने इस विषय पर व्याख्यान भी दिए हैं। इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता, क्योंकि यह विदेश है। जब पढ़ने से मन उकता जाता है, तब कभी-कभी पुराने अस्त्रशस्त्र के संग्रह में लग जाता हूँ। बड़ी मेहनत से मैंनें इनका एक संग्रह किया है। जिस कटार से सम्राट् पीटर ने अपनी प्रेमिकाओं की हत्या की थी, उसकी मूठ मेरे संग्रह में है; जिस प्याले में कैथराइन ने अपने पुत्र को विष दिया था, उसका एक खण्ड; जिस गोली से एक अज्ञात स्त्री ने आर्कएञ्जल के गवर्नर को मारा था, उसका ख़ाली कारतूस; जिस घोड़े पर सवार होकर नेपोलियन मॉस्को से भागा था, उसकी एक नाल, और नेपोलियन की जैकट का एक बटन भी मेरे संग्रह में हैं। ऐसा संग्रह शायद पेरिस में दूसरा नहीं है—शायद मॉस्को में भी नहीं था।

पर जो बात मैं कहना चाहता था, वह भूल गया। हाँ, मैं भावुक प्रकृति का नहीं हूँ। मेरी रुचि इसी संग्रह में, या कभी कभी क्रान्ति-सम्बन्धी साहित्य तक, परिमित है, और इधर-उधर की बातें मैं नहीं जानता। फिर भी उस दिन की घटना मेरे शान्तिमय जीवन में उसी तरह उथल-पुथल मचा गई, जिस तरह एक उद्यान में झंझावात। उस दिन से न जाने क्यों एक अज्ञात, अस्पष्ट अशान्ति ने मेरे हृदय में घर कर लिया है। जब भी मेरी दृष्टि उस टूटी हुई तलवार पर पड़ती है, एक गम्भीर किन्तु भावातिरेक से कम्पायमान ध्वनि मेरे कानों में गूँज उठती है—

"दीप बुझता है तो धुआँ उठता है। किन्तु जब हमारे विस्तृत देश के भूखे, पीड़ित, अनाश्रित कृषक-कुटुम्ब सड़कों पर भटक-भटक कर हेमावृत धरती पर बैठ कर अपने भाग्य को कोसने लगते हैं, जब उनके हृदय में सुरक्षित आशा की अन्तिम दीप्ति बुझ जाती है, तब एक आह तक नहीं उठती। न जाने कब तक वह बुझी हुई राख पड़ी रहती है—पड़ी रहेगी!—किन्तु किसी दिन, सुदूर भविष्य में, किसी घोर झंझा से, उसमें फिर चिनगारी निकलेगी! उसकी ज्वाला—घोरतम, अनवरुद्ध, प्रदीप्त ज्वाला!—किधर फैलेगी, किसको भस्म करेगी, किन नगरों और प्रान्तों का मान मर्दन करेगी—कौन जाने?"

मुझे रोमाञ्च हो आता है, मैं मन्त्रमुग्ध की तरह निश्चेष्ट होकर उस दिन की घटना पर विचार करने लग जाता हूँ।

रात्रि के आठ बज रहे थे। मैं मॉस्को में अपने कमरे में बैठा लैम्प के प्रकाश में धीरे-धीरे कुछ लिख रहा था। पास में एक छोटी मेज़ पर भोजन के जूठे बर्तन पड़े थे। इधर-उधर, दीवार पर टँगी या अंगीठी पर रखी हुई मेरे संग्रह की वस्तुएँ थीं।

बाहर वर्षा हो रही थी। छत पर से जो आवाज आ रही थी, उससे मैंने अनुमान किया कि ओले भी पड़ रहे हैं, किन्तु उस जाड़े में उठकर देखने की सामर्थ्य मुझ में नहीं थी। कभी कभी लैम्प के फीके प्रकाश पर खीझने के अतिरिक्त मैं बिल्कुल एकाग्र होकर दूसरे दिन पढ़ने के लिए 'सफल क्रान्ति' पर एक छोटा-सा निबन्ध लिख रहा था।

'सफल क्रान्ति क्या है? असंख्य विफल जीवनियों का, असंख्य निष्फल

प्रयत्नों का, असंख्य विस्मृत आहुतियों का, अशान्तिपूर्ण किन्तु शान्तिजनक निष्कर्ष !'

(उन दिनों मैं मॉस्को के एक स्कूल में अध्यापक था। वहीं इतिहास पढ़ाने में और कभी-कभी क्रान्तिविषयक लेख लिखने में तथा पढ़ने में मेरा समय बीत जाता था। क्रान्ति का अर्थ मैं समझता था या नहीं, यह नहीं कह सकता। आज मैं क्रान्ति के विषय में अपनी अनभिज्ञता को ही कुछ-कुछ जान पाया हूँ ! )

एकाएक किसी ने द्वार खटखटाया। मैंने बैठे ही बैठे उत्तर दिया, "आजाओ !" और लिखने में लगा रहा। द्वार खुला और बन्द हो गया। फिर उसी अविरल जलधारा की आवाज़ आने लगी---कमरे में निस्तब्धता छा गई। मैंने कुछ विस्मित होकर आँख उठाई, और उठाए ही रह गया।

बहुत मोटा-सा ओवरकोट पहने, सिर पर बड़े-बड़े बालों वाली टोपी रखे, गले में लाल रुमाल बाँधे, दरवाज़े के पास खड़ी एक स्त्री एकटक मेरी ओर देख रही थी। उसके कपड़े भीगे हुए थे, टोपी में कहीं-कहीं एक-आध ओला फँस गया था। पैरों में उसने घुटने तक पहुँचनेवाला बड़े-बड़े भद्दे रूसी बूट पहन रखे थे, जो कीचड़ में सने हुए थे। ऊपर टोपी और नीचे रुमाल के कारण उसके मुँह का बहुत थोड़ा भाग दीख पड़ता था। इस प्रकार आवृत होने पर भी उसके शरीर में एक लचक, और साथ ही एक खिचाव का आभास स्पष्ट होता था, मानो कपड़ों से ढँककर एक तने हुए धनुष की प्रत्यञ्चा सामने रख दी गई हो। आँखें नहीं दीखती थीं, किन्तु उन ओठों की पतली रेखा देखने से भावना होती थी कि उसके पीछे विद्युत् की चपलता के साथ ही वज्र की कठोरता दबी हुई है...

मैं क्षण भर उसकी ओर देखता रहा, किन्तु वह कुछ बोली नहीं। मैंने ही मौन भंग किया, "कहिए, क्या आज्ञा है ?" कोई उत्तर नहीं मिला। मैंने फिर पूछा, "आप का नाम जान सकता हूँ ?"

उसने धीरे-धीरे कहा, मानो प्रत्येक शब्द तौल-तौलकर रखा हो, "मैंने सुना था कि क्रान्तिकारियों से आप को सहानुभूति है, और आपने इस विषय पर व्याख्यान भी दिए हैं। इसी सहानुभूति की आशा से आप के पास आई हूँ।"

मैं काँप गया। मेरी इस सहानुभूति की चर्चा बाहर होती है, और क्रान्तिकारियों तक को इस का ज्ञान है, फिर मुझमें और क्रान्तिकारियों में भेद क्या है ? कहीं यह मॉस्को के राजनैतिक विभाग की जासूस तो नहीं है ? मेरी नौकरी...,

शायद साइबेरिया की खानों में आयु भर . . . पर अगर यह जासूस होती, तो ऐसी दशा में क्यों आती ? ऐसे बात क्यों करती ? इससे तो साफ़ सन्देह होने लगता है . . . जासूस होती तो विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा करती . . . पर क्या जाने, विश्वास उत्पन्न करने का शायद इसका यही ढंग हो . . . खैर कुछ भी हो, संभलकर बात करनी होगी।

मैंने उपेक्षा से कहा, "आप साफ़-साफ़ कहिए, बात क्या है ? मैं आप का अभिप्राय नहीं समझा।"

वह बोली, "मैं क्रान्तिकारिणी हूँ। मुझे अभी कुछ रुपए की आवश्यकता है। आप दे सकेंगे ?"

"किसलिए ?

वह कुछ देर के लिए असमञ्जस में पड़ गई, मानो सोच रही हो कि उत्तर देना चाहिए या नहीं। फिर उसने धीरे-धीरे ओवरकोट के बटन खोले और भीतर से एक तलवार—रक्तरञ्जित तलवार !—निकाली। इतनी देर में उसने आँख पल भर भी मुझ पर से नहीं हटाई। मुझे मालूम हो रहा था, मानो वह मेरे अन्तरतम विचारों को भाँप रही हो। मैं भी मुग्ध होकर देखता रहा . . .

वह बोली, "यह देखो ! जानते हो, यह किस का रक्त है ? कर्नल गोरोव्स्की का ! और उसकी लोथ उसके घर के बाक्स में पड़ी हुई है !

मैं भौंचक होकर बोला, "हैं ? कब ?"

"अभी एक घण्टा भी नहीं हुआ। उसी की तलवार. इन हाथों ने उसी के हृदय में भोंक दी ! तुम पूछोगे, क्यों ? शायद तुम्हें नहीं मालूम कि स्त्री कितना भीषण प्रतिशोध करती है !"

"तुम यहाँ क्यों आई ?"

"मुझे धन की जरूरत है। मास्को से भागने के लिए।"

"मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता। तुम हत्याकारिणी हो !"

वह एकाएक सहम-सी गई, मानो उसे इस उत्तर की आशा न हो। फिर धीरे-धीरे एक फीकी, विषादमय हँसी हँसकर बोली, "बस, यहीं तक थी तुम्हारी सहानुभूति ! इसी क्रान्तिवाद के लिए तुम व्याख्यान देते हो, यही तुम्हारे इतिहासों का निष्कर्ष है !"

"मैं क्रान्तिवादी हूँ, पर हत्यारा नहीं हूँ। इस प्रकार की हत्याओं से देश को लाभ नहीं, हानि होगी। सरकार ज्यादा दवाव डालेगी, मार्शल लॉ जारी होगा, फाँसियाँ होंगी। हमारा क्या लाभ होगा?"

"तुम क्रान्ति को क्या समझते हो, गुड़ियों का खेल?" यह कहती हुई वह मेरी मेज़ के पास आकर खड़ी होगई। मेज़ पर पड़े हुए काग़ज़ों को देखकर बोली, "यह क्या, 'सफल क्रान्ति! असंख्य विफल जीवनियों का . . . विस्मृत आहुतियों का निष्कर्ष!'"

वह ठठाकर हँसी। "सफल क्रान्ति! जानते हो, क्रान्ति के लिए कैसी आहुतियाँ देनी पड़ती हैं?"

मैं कुछ उत्तर न दे सका। मैं उसे वह लेख पढ़ते हुए देखकर लज्जित हो रहा था।

वह फिर बोली, "तुम भी अपने-आप को क्रान्तिवादी कहते हो, हम भी। किन्तु हमारे आदर्शों में कितना भेद है! तुम चाहते हो, स्वातन्त्र्य के नाम पर विश्व जीतकर उसपर शासन करना, और हम!—हम इसी की चेष्टा में लगे हैं कि अपने हृदय इतने विशाल बना सकें कि विश्व उनमें समा जाय!"

मैंने किसी षड्यन्त्र में भाग नहीं लिया है—क्रान्तिवाद पर लेक्चर देने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं किया है, फिर भी मैं अपने सिद्धान्तों पर यह आक्षेप नहीं सह सका। मैंने तन कर कहा, "तुम झूठ कहती हो। मैं सच्चा साम्यवादी हूँ। मैं चाहता हूँ कि संसार में साम्य हो, शासक और शासित का भेद मिट जाय। लेकिन इस प्रकार हत्या करने से यह कभी सिद्ध नहीं होगा। जिसे तुम क्रान्ति कहती हो, उसके लिए अगर यह करना पड़ता हो, तो मैं उस क्रान्ति का विरोध करूँगा, उसे रोकने का भरसक प्रयत्न करूँगा। इसके लिए अगर प्राण भी—"

"क्रान्ति का विरोध करोगे, उसे रोकोगे, तुम? सूर्य का उदय होता है, उसको रोकने की चेष्टा की है? समुद्र में प्रलय लहरा उठता है, उसे रोका है? ज्वालामुखी में विस्फोट होता है, धरती काँपने लगती है, उसे रोका है? क्रान्ति सूर्य से भी अधिक दीप्तिमान, प्रलय से भी अधिक भयंकर, ज्वाला से भी अधिक उत्तप्त, भूकम्प से भी अधिक विदारक है . . . उसे क्या रोकोगे!"

"शायद न रोक सकूँ। लेकिन मेरा जो कर्त्तव्य है, वह तो पूरा करूँगा।"

'क्या कर्त्तव्य ? लेक्चर झाड़ना ?"

"देश में अपने विचारों का निदर्शन, अहिंसात्मक क्रान्ति का प्रचार।"

"अहिंसात्मक क्रान्ति ! जो भूखे, नंगे, प्रपीड़ित हं, .. जाकर कहोगे, चुपचाप बिना आह भरे मरते जाओ ! रूस की भयंकर सर्दी मे बर्फ के नीचे दब जाओ, लेकिन इस बात का ध्यान रखना कि तुम्हारी लोथ किसी भद्रपुरुष के रास्ते में न आ जाय ! रोते हुए बच्चों से कहोगे, माता की छातियों की ओर मत देखो, बाहर जाकर मिट्टी-पत्थर खाकर भूख मिटाओ ! और अत्याचारी शासक तुम्हारी ओर देखकर मन ही मन हँसेंगे, और तुम्हारी अहिंसा की आड़ में निर्धनों क। रक्त चूसकर ले जाएँगे ! यही है तुम्हारी शान्तिमय क्रान्ति, जिसका तुम्हें इतना अभिमान है।"

"अगर शासक अत्याचार करेंगे, तो उनके विरुद्ध आन्दोलन करना भी तो हमारा धर्म होगा।"

"धर्म ? वही धर्म, जिसे तुम एक स्कूल की नौकरी के लिए बेच खाते हो ? वही धर्म, जिसके नाम पर तुम स्कूल में इतिहास पढ़ाते समय इतने झूठ बकते हो ?"

मैंने क्रुद्ध होकर कहा, "व्यक्तिगत आक्षेपों से कोई फ़ायदा नहीं है। ऐसे तो मैं भी पूछ सकता हूँ, तुम्हीं ने कौन बड़ा बलिदान किया है ? एक आदमी को मारकर भाग आई, यही न ?"

मुझे उसपर बड़ा क्रोध आ रहा था। किन्तु जिस तरह वह छाती के बटन खोले, हाथ में तलवार लिए, चामुण्डा की तरह खड़ी मेरी ओर देख रही थी, उसे देखकर मेरा साहस ही नहीं पड़ा कि उसे निकाल दूँ ! मैं प्रश्न पूछकर उसकी ओर देखने लगा। मुझे आशा थी कि वह मुझपर से दृष्टि हटा लेगी, मेरे प्रश्न का उत्तर देते घबराएगी, क्रुद्ध होगी। किन्तु यह सब कुछ भी नहीं हुआ। वह धीरे से काग़ज हटाकर मेरी मेज़ के एक कोने पर बैठ गई, और तलवार की नोक मेरी ओर करती हुई बोली, "मैंने क्या किया है, सुनोगे तुम ? मैंने बलिदान कोई बड़ा नहीं किया, लेकिन देखा बहुत कुछ है। मेरे पास बहुत समय है—अभी गोरोव्स्की का पता किसी को नहीं लगा होगा। सुनोगे तुम ?"

पहले मैंने सोचा, सुनकर क्या करूँगा ? अभी लेख लिखना है, कल स्कूल भी जाना होगा, और फिर पुलिस—इसे कह दूँ, चली जाय। लेकिन फिर एक

अदम्य कौतूहल, और अपनी हृदयहीनता पर ग्लानि-सी हुई। मैंने उठकर अंगीठी में कोयले हिलाकर आग तेज़ कर दी, एक और कुरसी उठाकर आग के पास रख दी, और उसी जगह बैठकर बोला, "हाँ, सुनूँगा। आग के पास उस कुर्सी पर बैठकर सुनाओ, सर्दी बहुत है।"

वह वहीं बैठी रही, मानो मेरी बात उसने सुनी ही न हो। केवल तलवार एक ओर रखकर, कुछ आगे की ओर झुककर आग की ओर देखने लगी। थोड़ी देर देखकर चौंककर बोली, "हाँ सुनो। मैंने घर में आरामकुर्सी पर बैठकर यन्त्रालयों में पिसते हुए श्रमजीवियों के लिए साम्यवाद पर लेख नहीं लिखे हैं। न मैंने मञ्च पर खड़े होकर कृषकों को ज़बानी स्वातन्त्र्य-युद्ध की मरीचिका दिखलाई है। मैंने घर-बार, माता-पिता, पति तक को छोड़कर धक्के ही धक्के खाए हैं। सौभाग्य बेचकर अपने विश्वास की रक्षा की है। स्वत्त्व बचाने के लिए पिता की हत्या की है . . . और—और अपना स्त्रीरूप बेचकर देश के लिए भिक्षा माँगी है—और आज फिर माँगने निकली हूँ।"

मेरे मुँह से अकस्मात् निकल गया, "किससे ?"

इस प्रश्न से मानों उसकी विचार-श्रृंखला टूट गई। तलवार की ओर देखती हुई बोली, "यह फिर बताऊँगी—वह मेरे अन्तिम—मेरे एकमात्र बलिदान की कहानी है।"

"विश्वास और स्वत्त्व की रक्षा—पिता की हत्या—मुझे कुछ भी समझ नहीं आया।"

"मेरे पिता पीटर्सबर्ग में पुलिस विभाग के सदस्य थे। मेरे पति भी वहाँ राजनैतिक विभाग में काम करते थे। कुटुम्ब में, वंश में, एक मैं ही थी, जिसने क्रान्ति का आह्वान सुना . . . फिर भी, कितने विरोध का सामना करना पड़ा ! पहले-पहल जब मैं क्रान्तिदल में आई, तो लोग मुझ पर सन्देह करने लग गए। न जाने किस अज्ञात शत्रु ने उनसे कह दिया, इसका पिता पुलिस में है, पति राजनैतिक विभाग में, इससे विनाश के अतिरिक्त और क्या आशा हो सकती है ? मैंने देखा, इतनी कामना, इतनी सदिच्छा होते हुए भी मैं अनादृता, परित्यक्ता-सी हूँ . . . मेरे पति को भी मेरी वृत्तियों का पता लग गया। फलस्वरूप एक दिन मैं चुपचाप घर से निकल गई—उन्हें भी नौकरी छिन जाने का डर था ! उसके

बाद—उसके बाद मेरी परीक्षा का प्रश्न उठा ! पति को छोड़ देने पर भी मुझ सदस्य नहीं बनाया गया—परीक्षा देने को कहा गया। कितनी भयंकर थी वह !"

क्षण भर आग की ओर देखने के बाद फिर उसने कहना शुरू किया—"मैं और चार और व्यक्ति पिस्तौलें लेकर एक दिन सायंकाल को निकोलस पार्क में बैठ गए। उस दिन उधर से पीटर्सबर्ग की पुलिस दो बन्दियों को लेकर जानेवाली थी। इसी पर वार करके बन्दियों को छुड़ाने का काम हमारे सुपुर्द हुआ था। यही मेरी परीक्षा थी !

"हम रात तक वहीं बैठे रहे। नौ बजे के लगभग पुलिस के बूटों की आहट आई। हम सावधान हो गए। किसी ने पूछा, 'कौन बैठा है ?' हमने उत्तर नहीं दिया, गोलियाँ दाग़नी शुरू कर दीं। दो मिनट के अन्दर निर्णय हो गया—हमारे तीन आदमी खेत रहे, पर हमें सफलता हुई। बन्दी मुक्त हो गए। हम चारों शीघ्रता से पार्क से निकलकर अलग हो गए।"

मैं बहुत ध्यान से सुन रहा था। ऐसी कहानी मैंने कभी नहीं सुनी थी—पढ़ी भी नहीं थी...... मैंने व्यग्रता से पूछा, "फिर ?"

"दूसरे दिन—दूसरे दिन मॉस्को में अखबार में पढ़ा, बन्दियों को लेकर जानेवाले अफ़सर थे—मेरे पिता !"

उस छोटे-से कमरे में फिर सन्नाटा छा गया। वर्षा अब भी हो रही थी। मैं विमनस्क-सा होकर छत पर पड़ रही बूँदें गिनने की चेष्टा करने लगा।

उसने पूछा, "और कुछ भी सुनोगे ?"

मैंने सिर झुकाकर उत्तर दिया, "मैंने तुम लोगों पर अन्याय किया है। वास्तव में तुम्हें बहुत उत्सर्ग करना पड़ता है। मैं अभी तक नहीं जान पाया था।"

"हाँ, यह स्वाभाविक है। एक अकेले व्यक्ति की व्यथा, एक आदमी का दुःख हम समझ सकते हैं। एक प्राणी को पीड़ित देखकर हमारे हृदय में सहानुभूति जगती है—एक हूक सी उठती है ... किन्तु जाति, देश, राष्ट्र ! कितना विराट् होता है ! इसकी व्यथा, इसके दुःख से असंख्य व्यक्ति एक साथ ही पीड़ित होते हैं—इसमें इतनी विशालता, इतनी भव्यता है कि हम यही नहीं समझ पाते कि व्यथा कहाँ हो रही है, हो भी रही है या नहीं।"

"ठीक है। तुम्हें बहुत दुःख झेलने पड़ते हैं। किन्तु इस प्रकार अकारण दुःख झेलना, चाहे कितनी ही धीरता से झेला जाय, बुद्धिमत्ता तो नहीं है।"

"हमारे दुःख प्रसव-वेदना की तरह हैं, इसके बाद ही क्रान्तिका जन्म होगा। इसके बिना क्रान्ति की चेष्टा करना, क्रान्ति से फल प्राप्ति की आशा करना विडम्बना मात्र है।"

"लेकिन हरेक आन्दोलन किसी निर्धारित पथ पर ही चलता है, ऐसे तो नहीं बढ़ता ?"

"क्रान्ति आन्दोलन नहीं है।"

"सुधार करने के लिए भी तो कोई आदर्श सामने रखना होता है ?"

"क्रान्ति सुधार नहीं है।"

"न सही। परिवर्त्तन ही सही। लेकिन परिवर्त्तन का भी तो ध्येय होता है !"

"क्रान्ति परिवर्त्तन भी नहीं है।"

मैंने सोचा, पूछूँ, तो फिर क्रान्ति है क्या ? किन्तु मैं बिना पूछे उसके मुख की ओर देखने लग गया। वह स्वयं बोली, "क्रान्ति आन्दोलन, सुधार, परिवर्त्तन कुछ नहीं है, क्रान्ति है विश्वासों का, रूढ़ियों का, शासन की और विचार की प्रणालियों का घातक, विनाशकारी, भयंकर विस्फोट ! इसका न आदर्श है, न ध्येय, न धुर। क्रान्ति विपथगा है, विध्वंसिनी है, विदग्धकारिणी है !"

ये तो सब बातें हैं। कवियों वाला शब्द-विन्यास है। ऐसी क्रान्ति से हमें मिलेगा क्या ?"

वह हँसने लगी। 'क्रान्ति से क्या मिलेगा ? कुछ नहीं। जो कुछ है, शायद वह भी भस्म हो जायगा। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि क्रान्ति का विरोध करना चाहिए। हमें इस बात का ध्यान भी नहीं करना चाहिए कि हमें क्रान्ति करके क्या मिलेगा।"

"क्यों ?

"कोढ़ का रोगी जब डाक्टर के पास जाता है, तो यही कहता है कि मेरा रोग छुड़ा दो। यह नहीं पूछता कि इस रोग को दूर करके इसके बदले मुझे क्या दोगे ! क्रान्ति एक भयंकर औषध है, यह कड़वी है, पीड़ाजनक है, जलानेवाली

है, किन्तु है औषध। रोग को मार अवश्य भगाती है। किन्तु इसके बाद, स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिए, जिस पथ्य की आवश्यकता है, वह इसमें खोजने पर निराशा ही होगी, इसके लिए क्रान्ति को दोष देना मूर्खता है।

मैं निरुत्तर हो गया। चुपचाप उसके मुख की ओर देखने लगा। थोड़ी देर बाद बोला, "एक बात पूछूँ ?

'क्या ?"

"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"क्यों ?"

"यों ही। कुतूहल है।"

"पिता ने जो नाम दिया था, वह उस दिन छूट गया, जिस दिन विवाह हुआ। पति ने जो नाम दिया था, उसे मैं आज भूल गई हूँ। अब मेरा नाम मेरिया इवानोव्ना है।"

कुछ देर हम फिर चुप रहे। मैंने तलवार की ओर देखते हुए पूछा, "यह—यह कैसे हुआ ?"

उसके उन विचित्र नील नेत्रों की सुषुप्त ज्वाला फिर जाग उठी। वह अपने हाथों की ओर देखती हुई बोली, "वह बहुत बीभत्स कहानी है। फिर आप ही आप, "नहीं, रक्त नहीं लगा है।"

कुतूहल होते हुए भी मैंने आग्रह नहीं किया। इतनी देर में मैं कुछ-कुछ समझने लगा था कि इस स्त्री ( या दानवी ? ) से अनुनय-विनय करना व्यर्थ है, इसपर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। मैं चुपचाप इसी आशा में बैठा रहा कि शायद वह स्वयं ही कुछ कह दे। मुझे निराश भी नहीं होना पड़ा।

वह आग की ओर देखती हुई धीरे-धीरे बोली, "तो सुनो। आज जो-कुछ मैं कह रही हूँ, वह मैंने कभी किसी से नहीं कहा। शायद अब किसी से कहूँगी भी नहीं। जब मैं तुम्हारा पता पूछ कर यहाँ आई, तब मुझे ज़रा भी ख़याल नहीं था कि तुम से कुछ भी बात करूँगी। केवल रुपया माँगकर चले जाने की इच्छा से आई थी। अब—अब मेरा ख़याल बदल गया है। मुझे रुपया नहीं चाहिए। मैं—"

"क्यों ?"

"मैं अपना काम करके मॉस्को से भाग जाना चाहती थी। किन्तु अब नहीं भागूँगी।"

"और क्या करोगी?"

"अभी एक काम बाक़ी है। एक बार और भिक्षा माँगनी है। उसके बाद—"

वह एकाएक रुक गई। फिर तलवार की धार पर तर्जनी फेरती हुई आप ही आप बोली, "कितनी तीक्ष्ण धार है यह!"

मैंने साहस करके पूछा, "भिक्षा की बात तुमने पहले भी कही थी, और बलिदान की भी। मैं कुछ समझ नहीं पाया था।"

"अब कहने लगी हूँ, तो सब कुछ कहूँगी। अब लज्जा के लिए स्थान नहीं रह गया है। स्त्रीत्व तो पहले ही खो दिया था, आज मानवता भी चली गई! और फिर—आज के बाद—सब कुछ एक हो जायगा। पर तुम चुपचाप सुनते जाओ, बीच में रोकना नहीं।"

मैं प्रतीक्षा में बैठ रहा। वह इस तरह निरीह होकर कहानी कहने लगी, मानो स्वप्न में कह रही हो—मानो मशीन से ध्वनि निकल रही हो।

"तुमने माइकेल क्रेस्की का नाम सुना है?"

"वही जो पीटर्सबर्ग में पुलिस के तीन अफ़सरों को मार कर लापता हो गए थे?"

"हाँ, वही। वे हमारी संस्था के प्रधान थे।" यह कहकर उसन मेरी ओर देखा। मैं कुछ नहीं बोला, किन्तु मेरे मुख पर विस्मय का भाव उसने स्पष्ट देखा होगा। वह फिर कहने लगी, "वे कल यहीं मॉस्को में गिरफ़्तार हो गए हैं।"

क्षण भर निस्तब्धता रही।

"पर उनको गिरफ्तार करके ले जाने पर भी पुलिस को यह नहीं पता लगा कि वे कौन हैं। वे इसी सन्देह पर गिरफ़्तार किए, गए थे कि शायद क्रान्तिकारी हों। मुझे इस बात की ख़बर मिली, तो मैंने निश्चय किया कि जाकर पता लगाऊँ। मैं यह साधारण गँवार स्त्री की पोशाक पहनकर पुलिस विभाग के दफ़्तर में गई। वहाँ जाकर मैंने अपना परिचय यही दिया कि मैं उनकी बहिन हूँ, गाँव से उन्हें लेने आई हूँ। तब तक पुलिस को उनपर कोई सन्देह

नहीं हुआ था। लेकिन वे इधर-उधर से—पीटर्सबर्ग से भी—पूछताछ कर रहे थे।

"पहले तो मैंने सोचा कि पीटर्सबर्ग से अपने साथियों को बुला भेजूँ, उनसे मिलकर इन्हें छुड़ाने का प्रयत्न करूँ। लेकिन इसके लिए समय नहीं था—न जाने कब उन्हें पीटर्सबर्ग से उत्तर आ जाय! मैं अकेली सिवाय अनुनय-विनय के कुछ नहीं कर सकती थी... उफ़! अपनी अशक्तता पर कितना क्रोध आता था। मैं दाँत पीसकर रह गई... जब तक ऐसे समय में अपनी असमर्थता, निस्सहायता का अनुभव नहीं होता, तब तक क्रान्ति की आवश्यकता भी पूरी तरह से नहीं समझ आ सकती।"

मेरी ओर देख और मुझे ध्यान से सुनता पाकर वह फिर बोली—

"फिर—फिर मैंने सोचा, जो कुछ मैं अकेले कर सकती हूँ, वह करना ही होगा! अगर गिड़गिड़ाने से उन्हें छुड़ा सकूँ तो यह करना होगा, चाहे बाद में मुझे फाँसी पर भी लटकना पड़े! मैंने निश्चय कर लिया—मेरी हिचकिचाहट दूर हो गई। कल ही शाम को मैं जनरल कोल्पिन के बँगले पर गई। उस समय वहाँ कर्नल गोरोव्स्की भी मौजूद था। पहले तो मुझे अन्दर जाने ही नहीं मिला, दरवान ने जो कुछ मेरे पास था, तलाशी में निकाल कर रख लिया। बहुत गिड़गिड़ाकर मैं अन्दर जा पाई।

"पहले जनरल कोल्पिन ने मुझे देखकर डाँट दिया। फिर न जाने क्या सोचकर बोला, 'क्यों, क्या बात है?' मैंने अपनी गढ़ी हुई कहानी कह सुनाई कि मेरा भाई निर्दोष था, पुलिस ने यों ही उसे पकड़ लिया। जनरल साहब बहुत बड़े आदमी हैं, सब कुछ उनके हाथ में है, जिसे चाहें उसे छोड़ सकते हैं... मैं उसके आगे रोई भी, उसके पैर भी पकड़े—उसके जिसकी मैं जबान खींच लेती!

"वह चुपचाप सुनता रहा। जब मैं कह चुकी, तब भी कुछ नहीं बोला। थोड़ी देर बाद उसने आँख से गोरोव्स्की को इशारा किया। कुछ कानाफूसी हुई। गोरोव्स्की ने मुझे कहा, 'इधर आओ, तुमसे कुछ बात करनी है।' मैं उसके साथ दूसरे कमरे में चली गई। वहाँ जाकर वह बोला, 'देखो, अभी सब कुछ हमारे हाथ में है, पर कल के बाद नहीं रहेगा। हमें उसे अदालत में ले जाना होगा। फिर—'

"यह कहकर वह चुप हो गया। मैंने कहा, 'आप मालिक हैं, जैसा कहेंगे मैं करूँगी।' वह बोला, 'जनरल साहब तुम्हारे भाई पर दया करने को तय्यार हैं—एक शर्त पर।' मैंने उत्सुक होकर पूछा, क्या? वह मेरे बहुत पास आ गया। फिर धीरे-धीरे बोला, 'मेरिया इवानोव्ना, तुम अपूर्व सुन्दरी हो' . . ."

वह बोलते-बोलते चुप हो गई। मैंने सिर उठाकर उसकी ओर देखा, उसकी आँखें विचित्र ज्योति से चमक रही थीं। वह एकाएक मेज़ पर से उठकर मेरे सामने खड़ी हो गई। बोली, "जानते हो, उसकी क्या शर्त थी, जानते हो? ऐसी शर्त तुम्हें स्वप्न में भी न सूझेगी . . . यही एक शर्त थी, यही एक मात्र बलिदान था, जिसके लिए मैं तय्यार होकर नहीं गई थी . . ."

वह फिर चुप हो गई। दोनों हाथों से अपनी कमीज़ का कालर और गले का रुमाल पकड़कर कुछ देर मेरी ओर देखती रही। फिर एकाएक झटका देकर कमीज़ और रुमाल फाड़ती हुई बोली, "देखो, अध्यापक! ऐसा सौन्दर्य तुमने कभी देखा है?"

उसका मुख, जो कि रुमाल और टोपी से ढका हुआ था, अब एकदम स्पष्ट दीख रहा था। उसके नीचे उसका गला और वक्ष भी खुला हुआ था . . . उसका वह अपूर्व लावण्य, वह प्रस्फुटित सौन्दर्य, अधरों पर दबी हुई विषादयुक्त मुस्कान, हेमवर्ण कण्ठ और वक्ष . . . ऐसा अनुपम सौन्दर्य सचमुच मैंने पहले नहीं देखा था . . . मेरे शरीर में बिजली दौड़ गई—फिर मैंने दृष्टि फेर ली . . .

किन्तु उसकी वह आँखें . . . विस्फारित, निर्निमेष . . . उनका वह तुषार-कणों की तरह शीतल प्रदीपन . . . उनमें विराग, क्रोध, करुणा, व्यथा की अनुपस्थिति . . . वह शुक्रतारे की हरित ज्योति . . . !

"यह है बलि! यह स्त्री का रूप है माइकेल क्रेस्की की मुक्ति का मूल्य!"

मैंने चाहा, कुछ कहूँ, चिल्लाऊँ, पर बहुत चेष्टा करने पर भी आवाज नहीं निकली!

"उसने, उस नर-पिशाच गोरोव्स्की ने, मेरे पास आकर कहा, 'मेरिया इवानोव्ना, तुम अपूर्व सुन्दरी हो—तुम्हारे लिए अपने भाई को छुड़ा लेना साधारण-सी बात है' . . . मुझपर मानो बिजली गिरी। क्षण भर मुझे इस शर्त का पूरा अभिप्राय भी न समझ आया। फिर समुद्र की लहरों की तरह मेरे हृदय में क्रोध

उमड़ आया। मेरा मुख लाल हो गया। मैंने कहा, 'पापी! कुत्ते!' और तीव्र गति से बाहर निकल गई। किन्तु पीछे उसकी हँसी और ये शब्द सुनाई पड़े—'कल शाम तक प्रतीक्षा है, उसके बाद—'

"बाहर ठण्डी हवा में आकर मेरी सुध कुछ ठिकाने आई। मैं शान्त होकर सोचने लगी, मेरा कर्त्तव्य क्या है? माइकेल क्रेस्की का गौरव अधिक है या उन्हें मर जाने दूँ? कभी नहीं! छुड़ाऊँ तो कैसे? इसी आशा में बैठ रहूँ कि शायद पुलिस को पता न लगे? प्रतारणा! कहीं वे उन्हें पहचान गए तो...! पीटर्सबर्ग से किसी को बुलाऊँ? पर उसके लिये समय कहाँ है! अकेली क्या करूँगी? वह शर्त...!

"प्रधान, हमारा कार्य, देश, राष्ट्र! इसके विरुद्ध क्या? एक स्त्री का सतीत्व...! मैंने निर्णय कर लिया। शायद मुझसे ग़लती हुई; शायद इस निर्णय के लिए संसार, मेरे अपने क्रान्तिवादी बन्धु, मेरे नाम पर थूकेंगे; शायद मुझे नरक की यातना भोगनी पड़ेगी पर जो यातना मैंने निर्णय करने में सही है, उस-से अधिक नरक में भी क्या होगा?"

वह फिर ठहर गई। अब की बार मुझसे नहीं रहा गया। मैंने अत्यन्त व्यग्रता से पूछा, "क्या निर्णय किया है?"

"अभी यहीं से जनरल कोल्पिन के घर जाऊँगी। पर सुनो, अभी मेरी कहानी समाप्त नहीं हुई। आज छः बजे मैं कर्नल गोरोव्स्की के घर गई। मेरे आते ही वह हँसकर बोला, 'मेरिया, तुम जितनी सुन्दर हो, उतनी ही बुद्धिमती भी हो। इज्जत तो बार बार बिगड़कर भी बन जाती है, भाई बार-बार नहीं मिलते!' मैंने सिर झुकाकर कहा, 'हाँ, आप साहब से कहला भेजें कि मुझे उनकी शर्त मंजूर है।'

"वह उस समय वर्दी उतारकर रख रहा था। बोला, 'तुम यहीं ठहरो, मैं टेलिफ़ोन पर कहे देता हूँ।' वह कोने में टेलिफ़ोन पर बात करने लगा। उसकी पीठ मेरी ओर थी। मुझे एकाएक कुछ सूझा... मैंने म्यान में से उसकी तलवार निकाल ली—दबे पाँव जाकर उसके पीछे खड़ी हो गई। टेलिफ़ोन पर बातचीत हो चुकी—गोरोव्स्की उसे बन्द करके घूमने को ही था कि मैंने तलवार उसकी पीठ में भोंक दी! उसने आह तक नहीं की—अनाज की बोरी की तरह भूमि पर

बैठ गया! फिर मैंने उसकी लोथ उठाकर खिड़की से बाहर डाल दी—और भाग निकली!"

मैंने पूछा, "तुम्हारे इन हाथों में इतनी शक्ति!"

वह हँस पड़ी, बोली, "मैं क्रान्तिकारिणी हूँ। यह देखो!"

उसने तलवार उठाई, एक हाथ से मूठ और दूसरे से नोक थामकर बोली, "यह देखो!" देखते-देखते उसने उसे चपटी ओर से घुटने पर मारा—तलवार दो टूक हो गई! उसने वे दोनों टुकड़े मेरी मेज़ पर रख दिए।

मैंने पूछा, "अब—अब क्या करोगी?"

"अब कोल्पिन के यहाँ जाऊँगी। क्रेस्की को छुड़ाऊँगी। उसके बाद? उसके बाद—"

उसने अपनी जेब में हाथ डालकर एक छोटा-सा रिवाल्वर निकाला। "यह भी गोरोव्स्की के यहाँ से मिल गया।"

"पर—इसका क्या करोगी?"

"प्रयोग!" कहकर उसने उसे छिपा लिया।

इसके बाद शायद चार-पाँच मिनट फिर कोई न बोला। मैंने उसकी सारी कहानी का मन ही मन सिंहावलोकन किया। उसमें कितनी बीभत्सता, कितनी करुणा थी! और उसका दोष क्या था? केवल इतना ही कि वह क्रान्तिकारिणी थी! एकाएक मुझे एक बात याद आ गई। मैंने पूछा, "तुमने कहा था कि तुमने पहले भी भिक्षा माँगी थी—इसी प्रकार की। वह क्या बात थी, बताओगी?"

वह अब तक खड़ी थी, अब फिर मेज़ पर बैठ गई। बोली, "वह पुरानी बात है। उन दिनों की, जब मैं पीटर्सबर्ग से भागी थी। अकेली नहीं, साथ में एक लड़की भी थी—तुमने पाँलिना का नाम सुना है?"

"हाँ, सुना तो है। इस समय याद नहीं आ रहा कि कहाँ।"

"वह नोव्गोरोड् में पकड़ी गई थी—वेश्याओं की गली में—और गोली से उड़ा दी गई थी।"

"हाँ, मुझे याद आ गया। उसके बाद बहुत शोर भी मचा था कि यह क्यों हुआ, लेकिन कुछ पता नहीं लगा।"

"हाँ। उस दिन मैं भी नोव्गोरोड् में थी—उसी घर में! हम दोनों वहाँ

रहती थीं। एक वेश्या के यहाँ ही। वहीं, नित्य प्रति रात को लोग आते थे, हमारे शरीरों को देखते थे, गन्दे संकेत करते थे, और हम बैठी सब कुछ देखा करती थीं। वहाँ, जब वे चूसे हुए नीबू की तरह बीमारियों से घुले हुए पूँजीपति साफ-साफ कपड़े पहनकर इठलाते हुए आते थे—उफ़! जिसने वह नहीं देखा, वह पूँजीवाद और साम्राज्यवादका दूरव्यापी परिणाम नहीं समझ सकता! धन के आधिक्य से ही कितनी बुराइयाँ समाज में आ जाती हैं—इसको जानने के लिए वह देखना जरूरी है!

"फिर वे आसपास की कोठरियों में चले जाते थे... किसी किसी में अँधेरा हो जाता था... फिर..."

थोड़ी देर वह चुप रही। फिर बोली, "कभी-कभी उनमें एक-आध नवयुवक भी आता था—शान्त, सुन्दर, सुडौल... उनके आने पर वह घर—और उसमें रहनेवाले—कितने विद्रूप, कितने बीभत्स मालूम होने लगते थे... किन्तु शायद अगर वे न आते, तो हमारी वहीं मृत्यु हो जाती—इतना ग्लानिमय दृश्य था वह!

"यही थे हमारे सहायक, हमारे सहकारी... हमें पीटर्सबर्ग से जो ऐलान बाँटने के लिए आते थे, वे हम इन्हें दे देती थीं—ये उन्हें बाँट आते थे। नोव्गोरोड् में हमने अपनी संस्था की शाखा इसी तरह बनाई। फिर नोव्गोरोड् से आर्कएञ्जेल, फिर जेरोस्लावल, फिर पीटर्सबर्ग और फिर वापस नोव्गोरोड्... आर्कएञ्जेल में तीन गवर्नरों की हत्या हुई, जेरोस्लावल में राजकर्मचारियों के घर जला दिए गए, नोव्गोरोड् में पुलिस के कई अफसर मारे गए। फिर—पॉलिना पकड़ी गई, और मैं मॉस्को में आ गई..."

"पर वह पकड़ी कैसे गई?"

"वे मुहल्ले जिनमें हम रहते थे, रात ही को खुलते थे... दिन में वे वैसे ही पड़े रहते थे, जैसे विस्फोट के बाद ज्वालामुखी का फटा हुआ शिखर... पर उस दिन जरूरी काम था—पॉलिना मोटा-सा कोट पहन, मुँह ढककर बाहर निकली। उसकी जेब में कुछ पत्र थे और एक पिस्तौल, और वह पत्र पहुँचाने जा रही थी। इसी समय—"

घड़ी में टन्! टन्! ग्यारह बज गए। वह चौंककर उठी और बोली, "बहुत देर हो गई—अब मैं जाती हूँ।"

"कहाँ ?"

"कोल्पिन के यहाँ—अन्तिम भिक्षा माँगने।"

उसने शीघ्रता से अपने कोट के बटन बन्द किए और उठ खड़ी हुई। मैं भी खड़ा हो गया।

मैंने रुक-रुककर कहा, "स्वातन्त्र्य-युद्ध में बहुत सिरों की बलि देनी पड़ती है।" मानो मैं अपने-आप को ही समझा रहा होऊँ।

वह बोली, "ऐसे स्वातन्त्र्य-युद्ध में सिर अधिक टूटते हैं या हृदय—कौन कह सकता है ?"

मैं चुप होकर खड़ा रहा। वह कुछ हँसी, फिर बोली, "जीवन कैसा विचित्र है, जानते हो, अध्यापक ? मैं आई थी धन लेकर विलुप्त हो जाने, और चली हूँ, स्मृति-स्वरूप वह बोकर—वह अशान्ति का बीज !"

जिधर उसने संकेत किया था, मैं उधर देखता ही रह गया। लैम्प और आग के प्रकाश में लाल-लाल चमक रही थी—उस टूटी हुई तलवार की मूठ !

सहसा किवाड़ खुलकर बन्द हो गया। मेरा स्वप्न टूट गया—मैंने आँख उठाकर देखा।

वर्षा अब भी हो रही थी—ओले भी पड़ रहे थे। किन्तु वह—वह वहाँ नहीं थी। था अकेला मैं—और वह अशान्ति का बीज !

वह बीज कैसे प्रस्फुटित हुआ, यह फिर कहूँगा। कभी उस दिन की घटना पूरी कहनी है।

वह चली गई। पर मैं फिर अपना लेख नहीं लिख सका...एक बार मैंने कागज़ों की ओर देखा, 'सफल क्रान्ति !' दो शब्द मेरी ओर देखकर हँस रहे थे...'विस्मृत आहुतियों का शान्तिजनक निष्कर्ष !' प्रवञ्चना ! मैंने वे कागज फाड़कर आग में डाल दिए। फिर भी शान्ति नहीं मिली। मैं सोचने लगा, इसके बाद वह क्या करेगी ? कोल्पिन के घर में...माइकेल क्रेस्की तो शायद मुक्त हो जायँगे...किन्तु उसके बाद ?...

उस उद्धार के फल-स्वरूप आनन्द, उल्लास, गौरव—कहाँ होंगे ? वहाँ होगी व्यथा, प्रज्वलन, पशुता का ताण्डव ! जहाँ स्वतन्त्रता का उद्दाम आह्वान होना चाहिए, वहाँ क्या होगा ?— एक स्त्री-हृदय के टूटने की धीमी आवाज !

मैंने जाकर लैम्प बुझा दिया। कमरे में अँधेरा छा गया, केवल कहीं-कहीं अंगीठी की आग से लाल-लाल प्रकाश पड़ने लगा, और उसमें कुर्सी की टाँगों की छाया एक विचित्र नृत्य करने लगी! मैं उसे देखते देखते फिर सोचने लगा--इसी समय कोल्पिन के घर में न-जाने क्या हो रहा होगा . . . मेरिया वहाँ पहुँच गई होगी--शायद अब तक क्रेस्की मॉस्को की किसी गली में छिपने के लिए चल पड़े हों . . . वे क्या सोचते होंगे कि उनका उद्धार कैसे हुआ? मेरिया की बात उन्हें मालूम होगी? शायद वहाँ उनका मिलन हो जाय—किन्तु कोल्पिन क्यों होने देगा? मेरिया के बलिदान की बात शायद कोई न जान पाएगा--किसी को भी मालूम नहीं होगा . . . असीम समुद्र में बहते हुए एकाएक बुझ जानेवाले दीप की तरह उसकी कथा वहीं समाप्त हो जायगी—और मैं उसका नाम तक नहीं जान पाऊँगा! कैसी विडम्बना है यह!

घड़ी में बारह बजे। मैं चौंका एक अत्यन्त बीभत्स दृश्य मेरी आँखों के आगे नाच गया। कोल्पिन और मेरिया . . . उस दृश्य के विचार को भी मैं नहीं सह सका! मैंने उठकर किवाड़ खोल दिए और दरवाजे के बीच में खड़ा होकर वर्षा को देखने लगा। कभी-कभी एक-आध ओला मेरे ऊपर पड़ जाता था, किन्तु मुझे उसका ध्यान भी नहीं हुआ। मैं आँखें फाड़कर रात्रि के अन्धकार में वर्षा की बूँदें देखने की चेष्टा कर रहा था . . .

पूर्व में जब धुँधला-सा प्रकाश हो गया, तब मेरा वह जाग्रत स्वप्न टूटा। तब मुझे ज्ञान हुआ कि मेरे हाथ-पैर सर्दी से संज्ञाशून्य हो गए हैं। मैंने मानो वर्षा से कहा, 'वहाँ जो कुछ होना था, अब तक हो चुका होगा।' फिर मैं किवाड़ बन्दकर अन्दर जाकर लेट गया और अपने ठिठुरे हुए अंगों को गर्मी पहुँचाने के लिए कम्बल लपेटकर पड़ रहा . . .

उस दिन की घटना यहीं समाप्त होती है; पर उसके बाद एक-दो घटनाएँ और हुई, जिनका इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह भी यहीं कहूँगा।

इसके दूसरे दिन मैंने पढ़ा, "कल रात को जनरल कोल्पिन और कर्नल गोरोव्स्की दोनों अपने घरों में मारे गए। जनरल कोल्पिन की हत्या एक स्त्री ने रिवाल्वर से की। उनको मारने के बाद उसने उसी रिवाल्वर से आत्मघात कर लिया। कर्नल गोरोव्स्की घर में तलवार से मारे पाए गए। कहा जाता है

कि उनकी अपनी तलवार और रिवाल्वर दोनों ग़ायब हैं। जिस रिवाल्वर से जनरल कोल्पिन की हत्या की गई, उसपर गोरोव्स्की का नाम लिखा हुआ है, इससे अनुमान किया जाता है कि गोरोव्स्की और कोल्पिन की घातक यही स्त्री है। पुलिस ज़ोरों से अनुसंधान कर रही है, लेकिन अभी इसके रहस्य का कुछ पता नहीं लगा है।''

क्रेस्की का कहीं नाम भी नहीं था।

यह रहस्य आज भी नहीं खुला। हाँ, इसके कुछ दिन बाद मैंने सुना कि माइकेल क्रेस्की पीटर्सबर्ग के पास पुलिस से लड़ते हुए मारे गए...

वह रहस्य दबा ही रह गया। शायद माइकेल क्रेस्की को स्वयं भी कभी यह नहीं ज्ञात हुआ कि वे मॉस्को से उस दिन आधी रात के समय क्यों एकाएक छोड़ दिए गए...

किन्तु अशान्ति का जो बीज मेरे हृदय में बोया गया था, वह नहीं दब सका। जिस दिन मैंने सुना कि माइकेल क्रेस्को मारे गए, उस दिन मेरी धमनियों में रूसी रक्त खौल उठा...क्रेस्की के कारण नहीं, किन्तु मेरिया के शब्दों की स्मृति के कारण। मैंने अपने स्कूल में एक व्याख्यान दिया, जिसमें जीवन में पहली बार विशुद्ध हृदय से मैंने क्रान्ति का समर्थन किया था...

इसके बाद मुझे रूस से निर्वासित कर दिया गया, क्योंकि क्रान्ति के पोषकों के लिए रूस में स्थान नहीं था!

आज मैं पैरिस में रहता हूँ। मॉस्को की तरह अब भी मैं अध्यापन का काम कर रहा हूँ, किन्तु अब उसमें मेरी रुचि नहीं है। आज भी मैं क्रान्ति-विषयक पुस्तकों का अध्ययन करता हूँ, किन्तु अब पढ़ते समय मेरा ध्यान अपनी अनभिज्ञता की ओर ही रहता है। आज भी मेरा वह संग्रह उसी भाँति पड़ा है, किन्तु अब उसकी सब से अमूल्य वस्तु है वह टूटी हुई तलवार! हाँ, अब मैंने व्याख्यान देना छोड़ दिया है,—अब एक विचित्र विषादमय अशान्ति, एक विक्षोभमय ग्लानि, मेरे हृदय में घर किए रहती है...

ज्वालामुखी से आग निकलती है और बुझ जाती है, किन्तु जमे हुए लावा के काले-काले पत्थर पड़े रह जाते हैं। आँधी आती है और चली जाती है, किन्तु वृक्षों की टूटी हुई शाखें सूखती रहती हैं। नदी में पानी चढ़ता है और उतर जाता

है, किन्तु उसके प्रवाह से एकत्रित घास-फूस, लकड़ी, किनारे पर सड़ती रह जाती है। यह टूटी तलवार भी उसके आवागमन का स्मृति-चिह्न है। जब भी इसकी ओर देखता हूँ, दो धधकते हुए, निर्निमेष वृत्त मेरे आगे आ जाते हैं, मैं सहसा पूछ बैठता हूँ, "मेरिया इवानोव्ना, तुम मानवी थीं, या दानवी, या स्वर्ग-भ्रष्टा विपथगा देवी ?"

------

## परदा

चौधरी पीरबक्श के दादा चुंगी के महकमे में दारोगा थे। आमदनी अच्छी थी। एक छोटा पर पक्का मकान भी उन्होंने बनवा लिया। लड़कों को पूरी तालीम दी ! दोनों लड़के एण्ट्रेन्स पास कर रेलवाई में और डाकखाने में बाबू हो गये। चौधरी साहब की जिन्दगी में लड़कों के ब्याह और बाल-बच्चे भी हुये लेकिन ओहदे में खास तरक्की न हुई ; वही तीस और चालीस रुपये माहवार का दर्जा।

अपने ज़माने की याद कर चौधरी साहब कहते—'वो भी क्या वक्त थे। लोग मिडल पास कर डिप्टी-कलट्टरी करते थे और आजकल की तालीम है कि एण्ट्रेन्स तक अंग्रेजी पढ़कर लड़के तीस-चालीस से आगे नहीं बढ़ पाते।' बेटों को ऊँचे ओहदे पर देखने का अरमान लिये ही उन्होंने आँखें मूंद लीं।

इंशाअल्ला, चौधरी साहब के कुनबे में बरक्कत हुई। चौधरी फज़लकुर्बान रेलवाई में काम करते थे। अल्लाह ने उन्हें चार बेटे और तीन बेटियाँ दीं। चौधरी इलाहीबक्श डाकखाने में थे। उन्हें भी अल्लाह ने चार बेटे और दो लड़कियाँ बक्शीं।

चौधरी खान्दान अपने मकान को हवेली पुकारता था। नाम बड़ा देने पर

भी जगह तंग ही रही। दारोगा साहब के ज़माने में ज़नाना भीतर था और बाहर बैठक में वे मोंढ पर बैठ नेचा गुड़गुड़ाया करते। जगह की तंगी की वजह से उनके बाद बैठक भी ज़नाने में शामिल हो गई और घर की ड्योढ़ी पर पर्दा लटक गया। बैठक न रहने पर भी घर की इज्ज़त का खयाल था। इसलिये पर्दा बोरी के टाट का नहीं बढ़िया किस्म का रहता।

ज़ाहिरा दोनों भाइयों के बाल-बच्चे एक ही मकान में रहते पर भीतर सब अलग अलग था। ड्योढ़ी का पर्दा कौन भाई लाये? इस समस्या का हल यह हुआ कि दारोगा साहब के ज़माने की पलंग की रंगीन दरियाँ एक के बाद एक ड्योढ़ी में लटकाई जाने लगीं।

तीसरी पीढ़ी के ब्याह शादी होने लगे। आखिर चौधरी खान्दान की औलाद को हवेली छोड़ दूसरी जगहें तलाश करनी पड़ीं। चौधरी इलाहीबक्श के बड़े साहबजादे एण्ट्रेन्स पास कर डाकखाने में बीस रुपये की क्लर्की पा गये। दूसरे साहबज़ादे मिडिल पास कर हस्पताल में कम्पाउण्डर बनगये। ज्यों ज्यों ज़माना गुज़रता जाता, तालीम और नौकरी दोनो ही मुश्किल होती जातीं। तीसरे बेटे होनहार थे। उन्होंने वज़ीफा पाया। जैसे तैसे मिडिल कर स्कूल में मुदर्रिस हो देहात चले गये।

चौथे लड़के पीरबक्श प्राइमरी से आगे न बढ़ सके। आज कल की तालीम माँ-बाप पर खर्च के बोझ के सिवा और है क्या? स्कूल की फीस हर महीने और किताबों, कापियों और नक्शों के लिये रुपये ही रुपये।

चौधरी पीरबक्श का भी ब्याह हो गया। मौले के क़रम से बीबी की गोद भी जल्दी ही भरी। पीरबक्श ने रोज़गार के तौर पर, खान्दान की इज्ज़त के खयाल से, एक तेल की मिल में मुंशीगिरी कर ली। तालीम ज़्यादा नहीं तो क्या सफ़ेद पोश खान्दान की इज्ज़त का पास तो था। मज़दूरी और दस्तकारी उनके करने की चीज़ें न थीं। चौकी पर बैठते। कलम-दावात का काम था।

बारह रुपया महीना अधिक नहीं होता। चौधरी पीरबक्श को मकान सितवा की कच्ची बस्ती में लेना पड़ा। मकान का किराया दो रुपया था। आसपास ग़रीब और कमीन लोगों की बस्ती थी। कच्ची गली के बीचों बीच, गली के मुहाने पर लगे कमेटी के नल से टपकते पानी की काली धार बहती रहती। जिसके

किनारे घास उग आई थी। नाली पर मच्छरों और मक्खियों के बादल उमड़ते रहते। सामने रमजानी धोबी की भट्टी थी जिसमें से धुआँ और सज्जी मिले उबले कपड़ों की गंध उड़ती रहती। दाईं ओर न्यागरा बनाने वाले बीकानेरी मोचियों के घर थे। बाईं ओर वर्कशाप में काम करने वाले कुली रहते।

इस सब बस्ती में चौधरी पीरबक्श ही पढ़े लिखे सफेद पोश थे। सिर्फ उनके ही घर ड्योढ़ी पर पर्दा था। सब लोग उन्हें चौधरी जी, मुंशी जी कहकर सलाम करते। उनके घर की औरतों को कभी किसी ने गली में नहीं देखा। इँशाअल्ला घर में औलाद थी तो वह भी लड़कियाँ। बच्चियाँ चार-पाँच बरस की उम्र तक किसी काम काज से बाहर निकलतीं और फिर घर की आबरू के खयाल से उनका बाहर निकलना मुनासिब न था। पीरबक्श खुद ही मुस्कराते हुए सुबह शाम कमेटी के नल से घड़े भर लाते।

चौधरी की तनखाह पन्द्रह बरस में बारह से अठारह हो गई। खुदा की बरक्कत होती है तो रुपये पैसे की शक्ल में नहीं, आस-औलाद की शक्ल में होती है। पन्द्रह बरस में पाँच बच्चे हुए। पहले तीन लड़कियाँ और बाद में दो लड़के।

दूसरी लड़की होने को थी तो पीरबक्श की वाल्दा मदद के लिये आई। वालिद साहब का इंतकाल हो चुका था। दूसरा कोई भाई वाल्दा की फ़िक्र करने आया नहीं। वे छोटे लड़के के यहाँ ही रहने लगीं।

जहाँ बाल बच्चे और घर-बार होता है सौ किस्म की झंझट होती ही है। कभी बच्चे को तकलीफ़ है तो कभी जच्चा को। ऐसे वक्त में कर्ज की जरूरत कैसे न हो? घर बाहर है तो कर्ज भी होगा ही।

मिल की नौकरी का कायदा पक्का होता है। हर महीने की सात तारीख को गिनकर तनखाह मिल जाती है। पेशगी से मालिक को चिढ़ है। कभी बहुत ज़रूरत पर ही मेहरबानी करते। जरूरत पड़ने पर चौधरी घर की कोई छोटी-मोटी चीज़ गिरवी रख उधार ले आते। गिरवी रखने से रुपये के बारह आने ही मिलते। ब्याज मिलाकर सोलह आने हो जाते और फिर चीज़ के घर लौट आने की सम्भावना न रहती।

मुहल्ले में चौधरी पीरबक्श की इज्जत थी। उस इज्जत का आधार था, घर के दरवाजे पर लटका परदा। भीतर जो हो, पर्दा सालम रहता। कभी बच्चों की खींच-खाँच या बे दरद हवा के झोकों से उसमें छेद हो जाते तो परदे की आड़ से हाथ सुई धागा ले उसकी मरम्मत कर देते।

दिनों का खेल! मकान की ड्योढ़ी के किवाड़ गलते-गलते बिल्कुल गल गये। कई दफे कसे जाने से पेच टूट गये और सूराख ढीले पड़ गये। मकान मालिक सुरजू पाण्डे को उसकी फ़िक्र न थी। चौधरी कभी जाकर कहते-सुनते तो उत्तर मिलता—'कौन बड़ी बड़ी रकम थमा देते हो! दो रुपल्ली किराया और वह भी छः छः महीने का बकाया। जानते हो लकड़ी का क्या भाव है? न हो मकान छोड़ छाओ!' आखिर किवाड़ गिर गये। रात में चौधरी उन्हें जैसे तैसे चौखट से टिका देते। रात भर दहशत रहती, अगर कोई चोर आ जाय?

मुहल्ले में सफेद पोशी और इज्जत होने पर भी चोर के लिये घर में कुछ न था। शायद एक भी साबित कपड़ा या बरतन ले जाने के लिये चोर को न मिलता; पर चोर तो चोर है! छिनने के लिये कुछ न हो तो भी चोर का डर तो होता ही है। वह चोर जो ठहरा।

चोर से ज्यादा फ़िक्र थी आबरू की। किवाड़ न रहने पर पर्दा ही आबरू का रखवारा था। वह परदा भी तार-तार होते होते एक रात आँधी में किसी भी हालत से लटकने लायक न रह गया। दूसरे दिन सुबह घर की एक मात्र पुश्तैनी चीज दरी दरवाजे पर लटक गई। मुहल्लेवा लों ने देखा और चौधरी को सलाह दी—अरे चौधरी इस जमाने में दरी यों काहे खराब करोगे। बाजार से ला टाट का टुकड़ा न लटका दो! पीरबक्श टाट की कीमत मिल आते-जाते कई दफे पूछ चुके थे। दो गज टाट आठ आने से कम में न मिल सकता था हँस कर बोले—'होने दो क्या है। हमारे यहाँ पक्की हवेली में भी ड्योढ़ी पर दरी का ही पर्दा रहता था।'

कपड़े की महंगी के इस जमाने में घर की पाँचों औरतों के शरीर से कपड़े जीर्ण होकर यों गिर रहे थे जैसे पेड़ अपनी छाल बदलते हैं। पर चौधरी साहब की आमदनी से दिन में एक दफे किसी तरह आटा पेट भर सकने के अलावा कपड़े की गुंजाइश कहाँ? खुद उन्हें नौकरी पर जाना होता। पायजामे में जब पैबन्द

सम्भालने की ताब न रही, मारकीन का एक कुरता-पायजामा ज़रूरी हो गया, पर लाचार थे।

गिरवी रखने के लिये घर में जब कुछ न हो ग़रीब का एकमात्र सहायक है, पंजाबी खान! रहने की जगह भर देखकर ही वह रुपया उधार दे सकता है। दस महीने पहले गोद के लड़के, बर्कत के जन्म के समय पीरबक्श को रुपये की ज़रूरत आ पड़ी। कहीं और कोई प्रबन्ध न हो सकने के कारण उन्होंने पंजाबी खान बबरअलीखाँ से चार रुपये उधार ले लिये।

बबरअलीखाँ का रोजगार सितवा के उस कच्चे मुहल्ले में अच्छा खासा चलता था। बीकानेरी मोची, वर्कशाप के मज़दूर और कभी-कभी रमजानी धोबी सभी बबरमियाँ से कर्ज़ लेते रहते। कई दफे चौधरी पीरबक्श ने बबरअली को कर्ज और सूद की किश्त न मिलने पर अपने दो-हाथ के डंडे से ऋणी का दरवाज़ा पीटते देखा था, उन्हें साहूकार और ऋणी में बीच बचउवल भी करना पड़ा था। खान को वे शैतान समझते थे लेकिन लाचार हो जाने पर उसी की ही शरण लेनी पड़ी। चार आना रुपया महीना पर चार रुपया कर्ज़ लिया। शरीफ़, खान्दानी, मुसलमीन भाई का खयाल कर बबरअली ने एक रुपया माहवार की किश्त मान ली। आठ महीने में कर्ज अदा होना तै हुआ।

खान की किश्त न दे सकने की हालत में अपने घर के दरवाज़े पर फ़जीहत हो जाने की बात का खयाल कर चौधरी के रोयें खड़े हो जाते। सात महीने फाका करके भी किसी तरह वे किश्त देते चले गये। लेकिन जब सावन में बर्सात पिछड़ गई और बाजरा भी रुपये का तीन सेर मिलने लगा, किश्त देना सम्भव न रहा। खान सात तारीख की शाम को ही आया। चौधरी पीरबक्श ने खान की दाढ़ी छू और अल्ला की कसम खा, एक महीने की मुआफी चाही अगले महीने एक का सवा देने का वायदा किया। खान टल गया।

भादों में हालत और भी परेशानी की हो गई। बच्चों की माँ की तबीयत रोज़-रोज गिरती ही जा रही थी। खाया-पिया उसके पेट में न ठहरता। पथ्य के लिये उसे गेहूं की रोटी देना ज़रूरी हो गया। गेहूं मिलता मुश्किल से और रुपये का सिर्फ अढ़ाई सेर। बीमार का जी ठहरा, कभी प्याज के टुकड़े या धनिये की खुशबू के लिये ही मचल जाता। कभी पैसे की सौंफ़, अजवायन, काला नमक

की ही ज़रूरत हो तो पैसे की कोई चीज़ मिलती ही नहीं। बाज़ार में ताम्बे का नाम ही नहीं रह गया ; नाहक इकन्नी निकल जाती है। चौधरी को दो रुपये महँगाई भत्ते के भी मिले पर पेशगी लेते-लेते तनख़ाह के दिन केवल चार ही रुपये हिसाब में निकले।

बच्चे पिछले हफ्ते लगभग फ़ाके से थे। चौधरी कभी गली से दो पैसे की चौराई ख़रीद लाते, कभी बाजरा उबाल सब लोग कटोरा-कटोरा भर पी लेते। बड़ी कठिनता से मिले चार रुपयों में से सवा रुपया ख़ान के हाथ में घर देने की हिम्मत चौधरी को न हुई।

मिल से घर लौटते समय वे मण्डी की ओर टहल गये। दो घण्टे बाद जब समझा ख़ान टल गया होगा, अनाज की गठरी ले वे घर पहुंचे। ख़ान के भय से दिल डूब रहा था लेकिन दूसरी ओर चार भूखे बच्चों, उनकी माँ, दूध न उतर सकने के कारण सूख कर काँटा हो रहे गोद के बच्चे और चलने-फिरने से लाचार अपनी ज़ईफ़ माँ की भूख से बिलबिलाती सूरतें आँखों के सामने नाच जातीं। धड़कते हुए हृदय से वे कहते जाते—मौला सब देखता है, ख़ैर करेगा।'

सात तारीख की शाम को असफ़ल हो ख़ान आठ की सुबह ख़ूब तड़के, चौधरी के मिल चले जाने से पहले ही अपना डण्डा हाथ में लिए, दरवाजे पर मौजूद था।

रात भर सोच-सोचकर चौधरी ने ख़ान के लिए बयान तैयार किया। मिल के मालिक लालाजी चार रोज़ के लिए बाहर गये हैं। उनके दस्तख़त के बिना किसी को भी तनख़ाह नहीं मिल सकी। तनख़ाह मिलते ही वह सवा रुपया हाजिर करेगा।

माकूल वजह बता देने पर भी ख़ान बहुत देर गुर्राता रहा—'अम वतन चोड़ के परदेस में पड़ा है, ऐसे रुपिया चोड़ देने का वास्ते? अमारा भी बल बच्चा है। चार रोज़ में रुपिया नई देगा तो अम तुम्हारा......कर देगा।'

पाँचवें दिन रुपया कहाँ से आ जाता! तनख़ाह मिले हफ्ता भी नहीं हुआ। मालिक ने पेशगी देने से साफ़ इनकार कर दिया। छठे दिन किस्मत से एतवार था। मिल में छुट्टी रहने पर भी चौधरी ख़ान के डर से सुबह ही बाहर निकल गये। जान-पहचान के कई आदमियों के यहाँ गये। इधर-उधर की बातचीत

कर वे कहते—'अरे भाई हों तो बीस आने पैसे तो दो एक रोज़ के लिये देना। ऐसे ही ज़रूरत आ पड़ी है।"

—'अमियाँ पैसे कहाँ इस जमाने में . . .'—उत्तर मिलता—पैसे का मोल कौड़ी नहीं रह गया। हाथ में आने से पहले ही उधार में उठ गया तमाम . . . !'

दो पहर हो गई। खान आया भी होगा तो इस वक्त तक बैठा नहीं रहेगा, चौधरी ने सोचा और घर की तरफ़ चल दिये। घर पहुंचने पर सुना कि ख़ान आया था और घण्टे भर तक ड्योढ़ी पर लटके दरी के पर्दे को डण्डे से ठेल-ठेलकर गाली देता रहा है। पर्दे की आड़ से बड़ी-बी के बार-बार खुदा की कसम खा यकीन दिलाने पर कि चौधरी बाहर गये हैं, रुपया लेने गये हैं, खान गाली देकर कहता, 'नई बदजात, चोर बीतर में चिपा है ! अम चार घण्टे में पिर आता है। रुपिया लेकर जायगा। रुपिया नई देगा तो उसका खाल उतार कर बाजार में बेच देगा . . . . . . . हमारा रुपिया क्या अराम का है ?'

चार घण्टे से पहले ही ख़ान की पुकार सुनाई दी—'चोदरी !' पीरबक्श के शरीर में बिजली सी तड़प गई और वह बिलकुल निस्सत्व हो गये ; हाथ-पैर सुन्न और गला खुश्क।

गाली दे परदे को ठेलकर ख़ान के दुबारा पुकाराने पर चौधरी का शरीर निर्जीव-प्राय होकर भी निश्चेष्ट न रह सका। वे उठकर बाहर आ गये। ख़ान आग-बबूला हो रहा था—'पैसा नई देने का वास्ते चिपता है !' . . .एक से एक चढ़ती हुई तीन गालियाँ एक साथ ख़ान के मुँह से पीरबक्श के पुरखों और पीरों के नाम निकल गईं। इस भयंकर आघात से पीरबक्श का खान्दानी रक्त भड़क उठने के बजाय और भी निर्जीव हो गया। ख़ान के घुटने छू, अपनी मुसीबत बता, मुआफ़ी के लिये खुशामद करने लगे।

ख़ान की तेजी बढ़ गई। उसके ऊँचे स्वर से पड़ोस के मोची और मज़दूर चौधरी के दरवाज़े के सामने इकट्ठे हो गये। ख़ान क्रोध में डण्डा फटकार कर कह रहा था—'पैसा नहीं देना था, लिया क्यों ? तनखाह किदर में जाता ? अरामी अमारा पैसा मारेगा। . . . अम तुम्हारा खाल खींच लेगा। . . . पैसा नई हं तो गर पर परदा लटका के शरीफ़ज़ादा कैसे बनता ? . . . तुम अमको बीबी का गैना दो, बर्तन दो, कुछ भी तो दो ! अम ऐसे नई जायेगा . . .।'

बिलकुल बेबस और लाचारी में दोनों हाथ उठा, खुदा से खान के लिये दुआ माँग, पीरबक्श ने कसम खाई, एक पैसा भी घर में नहीं, बर्तन भी नहीं, कपड़ा भी नहीं। खान चाहे तो बेशक उनकी खाल उतार कर बेचले।

खान और आग हो गया—'अम तुम्हारा दुआ का क्या करेगा ; अम तुम्हारा खाल का क्या करेगा ; उसका तो जूतो बो नई बनेगा। तुमारा खाल से तो ये टाट अच्छा......' खान ने डयोढ़ी पर लटका दरी का परदा झटक लिया। डयोढ़ी से परदा हटने के साथ ही जैसे चौधरी के जीवन की डोर टूट गई। वह डगमगा कर ज़मीन पर गिर पड़े।

इस दृश्य को देख सकने की ताब चौधरी में न थी परन्तु द्वार पर खड़ी भीड़ ने देखा—घर की औरतें और लड़कियां परदे के दूसरी ओर घटती घटना के आतंक से आँगन के बीचों-बीच इकट्ठी हो खड़ी काँप रही थीं। सहसा परदा हट जाने से औरतें ऐसे सिकुड़ गईं जैसे उनके शरीर का वस्त्र खींच लिया गया हो ! वह परदा ही तो घर भर की औरतों के शरीर का वस्त्र था। उनके शरीर पर बचे चीथड़े उनके एक तिहाई अंग ढँकने में भी असमर्थ थे......

जाहिल भीड़ ने घृणा और शरम से आँखें फेर लीं। उस नग्नता की झलक से खान की कठोरता भी पिघल गई। ग्लानि से थूक, परदे को आँगन में वापिस फेंक, क्रुद्ध निराशा में उसने कहा—'लाहौल विला......।' और असफल लौट गया।

भय से चीखकर ओट में हो जाने के लिये भागती हुई औरतों पर दया कर भीड़ छँट गई। चौधरी बेसुध पड़े थे जब उन्हें होश आया, डयोढ़ी का परदा आँगन में सामने पड़ा था परन्तु उसे उठाकर फिर से लटका देने की सामर्थ्य उनमें शेष न थी। शायद अब उसकी आवश्यकता भी न रही थी।

परदा जिस भावना का अवलम्ब था, वह मर चुकी थी......।

—श्रीयशपाल

------

# कहानी का प्लाट

( १ )

मैं कहानी लेखक नहीं हूँ। कहानी लिखने योग्य प्रतिभा भी मुझ में नहीं है। कहानी-लेखक को स्वभावतः कला-मर्मज्ञ होना चाहिये, और मैं साधारण कलाविद् भी नहीं हूँ। किन्तु कुशल कहानी-लेखकों के लिए एक 'प्लाट' पा गया हूँ। आशा है, इस 'प्लाट' पर वे अपनी भड़कीली इमारत खड़ी कर लेंगे।

*　　　*　　　*　　　*

मेरे गाँव के पास एक छोटा-सा गाँव है। गाँव का नाम बड़ा गँवारू है, सुनकर आप घिनाएँगे। वहाँ एक बूढ़े मुंशीजी रहते थे—अब वे इस संसार में नहीं हैं। उनका नाम भी, विचित्र ही था—"अनमिल आखर अर्थ न जापू"—इसलिए उसे साहित्यिकों के सामने बताने से हिचकता हूँ। खैर, उनकी एक पुत्री थी, जो अब तक मौजूद है। उसका नाम—जाने दीजिये, सुन कर क्या कीजियेगा ? मैं बताऊँगा भी नहीं ! हाँ, चूँकि उसके सम्बन्ध की बातें बताने में कुछ सुगमता होगी, इसलिए उसका एक कल्पित नाम रख लेना ज़रूरी है। मान लीजिए उसका नाम है 'भगजोगनी'। देहात की घटना है, इसलिए देहाती नाम ही अच्छा होगा। खैर, आगे बढ़िये—

मुंशीजी के बड़े भाई पुलिस-दारोगा थे—उस ज़माने में जब कि अँगरेज़ी जाननेवालों की संख्या उतनी ही थी, जितनी आज धर्म-शास्त्रों के मर्म जाननेवालों की है ; इसलिए उर्दू पढ़े-लिखे लोग ही ऊँचे-ऊँचे ओहदे पाते थे। दारोगाजी ने आठ-दस पैसे के करीमा-खालिकबारी पढ़ कर जितना रुपया कमाया था उतना आज कालेज और अदालत की लाइब्रेरियाँ चाट कर वकील होने वाले भी नहीं कमाते।

लेकिन दारोगाजी ने जो कुछ कमाया, अपनी जिन्दगी में ही फूँक-ताप डाला। उनके मरने के बाद सिर्फ उनकी एक घोड़ी बची थी, जो थी तो सिर्फ़सात रुपये की ; मगर कान काटती थी तुर्की घोड़ों के—कम्बख्त बारूद की पुड़िया थी ! बड़े-बड़े अँगरेज अफ़सर उस पर दाँत गड़ाये रह गये ; मगर दारोगाजी ने सबको निबुआ नोन चटा दिया। इसी घोड़ी की बदौलत उनकी

तरक्की रुकी रह गई; लेकिन आखिरी दम तक वे अफ़सरों के घपले में न आये—न आये। हर तरह से काबिल, मेहनती ईमानदारी, चालाक, दिलेर और मुस्तैद आदमी होते हुए भी वे दारोगा के दारोगा ही रह गये—सिर्फ घोड़ी की मुहब्बत से!

किन्तु घोड़ी ने भी उनकी इस मुहब्बत का अच्छा नतीजा दिखाया—उनके मरने के बाद खूब धूम-धाम से उनका श्राद्ध करा दिया। अगर कहीं घोड़ी को भी बेच खाये होते, तो उनके नाम पर एक ब्राह्मण भी न जीमता। एक गोरे अफ़सर के हाथ खासी रकम पर घोड़ी को ही बेच कर मुंशीजी अपने बड़े भाई से उऋण हुए।

दारोगाजी के ज़माने में मुंशीजी ने भी खूब घी के दीये जलाये थे। गाँजे में बढ़िया से बढ़िया इत्र मल कर पीते थे—चिलम कभी ठंडी नहीं होने पाती थी। एक जून बत्तीस बटेर और चौदह चपातियाँ उड़ा जाते थे! हाथ मारने में तो दारोगाजी के भी बड़े भैया थे—अपना उल्लू सीधा करना भली भाँति जानते थे।

किन्तु जब बहियाँ बह गई, तब चारों ओर उजाड़ नज़र आने लगा। दारोगाजी के मरते ही सारी अमीरी घुस गई। चिलम के साथ-साथ चूल्हा-चक्की भी ठंडी हो गई। जो जीभ एक दिन बटेरों का शोरबा, सुड़कती थी, वह अब सराह-सराह कर मटर का सत्तू सरपोटने लगी। चुपड़ी चपातियाँ चबानेवाले दाँत अब चन्द चने चबा कर दिन गुज़ारने लगे। लोग साफ़ कहने लग गये—थानेदारी की कमाई और फूस का तापना दोनों बराबर है।

ग़रीबों की खाल उतारने वाले मुंशीजी को गाँव-जवार के लोग भी अपनी नज़रों से उतारने लगे। जो मुंशीजी चुल्लू के चुल्लू इत्र लेकर अपनी पोशाकों में मला करते थे, उन्हीं को अब अपनी रूखी-सूखी देह में लगाने के लिये चुल्लू भर कड़वा तेल मिलना भी मुश्किल हो गया। शायद किस्मत की फटी चादर का कोई रफूगर नहीं है!

लेकिन ज़रा किस्मत की दोहरी मार तो देखिये। दारोगाजी के ज़माने में मुंशीजी के चार-पाँच लड़के हुए; पर सब के सब सुबह के चिराग़ हो गये। जब बेचारे की पाँचों उँगलियाँ घी में थीं, तब तो कोई खाने वाला न रहा, और जब दोनों टाँगें दरिद्रता के दल दल में आ फँसीं और ऊपर से बुढ़ापा भी कन्धे दबाने

लगा, तब कोढ़ में खाज की तरह एक लड़की पैदा हो गई ! और तारीफ़ यह कि मुंशीजी की बदकिस्मती भी दारोगाजी की घोड़ी से कुछ कम स्थावर नहीं थी !

सच पूछिये तो इस तिलक-दहेज के ज़माने में लड़की पैदा करना ही बड़ी भारी मूर्खता है। किन्तु युग-धर्म की क्या दवा है ? इस युग में अबला ही प्रबला हो रही हैं। पुरुष-दल को स्त्रीत्व खदेड़े जा रहा है। बेचारे मुंशीजी का क्या दोष ? लड़का-लड़की तो परमात्मा की इच्छा पर है। मुंशीजी विवश थे। सचमुच अमीरी की क़ब्र पर पनपी हुई ग़रीबी बड़ी ही ज़हरीली होती है !

( २ )

भगजोगिनी चूँकि मुंशीजी की ग़रीबी में पैदा हुई और जन्मते ही माँ के दूध से वंचित हो कर 'टूअर' कहलाने लगी, इसलिये अभागिन तो बेहद थी, इसमें शक नहीं, पर सुन्दरता में वह अँधेरे घर का दीपक थी। आज-कल वैसी सुघर लड़की किसी ने कभी कहीं न देखी !

अभाग्यवश मैंने उसे देखा था ! जिस दिन पहले-पहल उसे देखा, वह क़रीब ग्यारह-बारह वर्ष की थी। पर एक ओर उसकी अनूठी सुघराई और दूसरी ओर उसका दर्दनाक ग़रीबी देख कर, सच कहता हूँ, कलेजा काँप गया। यदि कोई भावुक कहानी-लेखक या सहृदय कभी उसे देख लेता, तो उसकी लेखनी से अनायास करुणा की धारा फूट निकलती। किन्तु मेरी लेखनी में इतना ज़ोर नहीं है कि उसकी ग़रीबी के भयावने चित्र को मेरे हृदयपट से उतार कर 'सरोज' के इस कोमल 'दल' पर रक्खे। और, सच्ची घटना होने के कारण, केवल प्रभावशाली बनाने के लिए, मुझसे भड़कीली भाषा में लिखते भी नहीं बनता। भाषा में ग़रीबी को ठीक-ठीक चित्रित करने की शक्ति नहीं होती, भले ही वह राज-महलों की ऐश्वर्य लीला और विशाल वैभव के वर्णन करने में समर्थ हों !

आह ! बेचारी उस उम्र में भी कमर में सिर्फ़ एक पतला-सा चिथड़ा लपेटे हुए थी, जो मुश्किल से उसकी लज्जा ढँकने में समर्थ था। उसके सिर के बाल तेल बिना बुरी तरह बिखर कर बड़े डरावने हो गये थे। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में एक अजीब ढंग की करुण-कातर चितवन थी। दरिद्रता-राक्षसी ने सुन्दरता कुमारी का गला टीप दिया था !

कहते हैं प्रकृत सुन्दरता के लिए कृत्रिम शृङ्गार की जरूरत नहीं होती ; क्योंकि जंगल में पेड़ की छाल और फूल-पत्तियों से सज कर शकुन्तला जैसी मालूम होती थी, वैसी दुष्यन्त के राजमहल में सोलहों सिंगार करके भी वह कभी न फबी। किन्तु शकुन्तला तो चिन्ता और कष्ट के वायु-मण्डल में नहीं पली थी। उसके कानों में उदर-दैत्य का कर्कश हाहाकार कभी न गूँज था। वह शान्ति और सन्तोष की गोद में पल कर सयानी हुई थी, और तभी उसके लिए महाकवि की 'शैवाल-जाललिप्त-कमलिनी' वाली उपमा उपयुक्त हो सकी। पर 'भगजोगनी' तो ग़रीबी की चक्की में पिसी हुई थी, भला उसका सौन्दर्य कब खिल सकता था ! वह तो दाने-दाने को तरसती रहती थी एक बित्ता कपड़े के लिए भी मुहताज थी। सिर में लगाने के लिए एक चुल्लू अलसी का तेल भी सपना हो रहा था। महीने के एक दिन भी भर पेट अन्न के लाले पड़े थे। भला हड्डियों के खँडहर में सौंदर्य-देवता कैसे टिके रहते !

( ३ )

उफ ! उस दिन मुंशीजी जब रो-रोकर दुखड़ा सुनाने लगे, तब कलेजा टूक टूक हो गया। कहने लगे—

क्या कहूँ, बाबू साहब ! पिछले दिन जब याद आते हैं, तब गश आ जाता है। यह ग़रीबी की तीखी मार इस लड़की की वजह से और भी अखरती है। देखिये, इसके सिर के बाल कैसे खुश्क और गोरखधन्धारी हो रहे हैं। घर में इसकी माँ होती, तो कम से कम इसका सिर तो जूँओं का अड्डा न होता। मेरी आँखों की जोत अब ऐसी मन्द पड़ गई कि जूँएँ सूझती नहीं। और, तेल तो एक बूँद भी मिलता नहीं। अगर अपने घर में तेल होता, तो दूसरे के घर जाकर भी कंघी-चोटी करा लेती, सिर पर चिड़ियों का घोंसला तो न बनता ! आप तो जानते हैं, यह छोटा-सा गाँव है, कभी साल-छमासे में किसी के घर बच्चा पैदा होता है, तो इसके रूखे सूखे बालों के नसीब जागते हैं !

"गाँव के लड़के, अपने-अपने घर भर पेट खाकर, जब झोलियों में चबेना लेकर खाते हुए घर से निकलते हैं, तब यह उनकी बाट जोहती रहती है—उनके पीछे-पीछे लगी फिरती है, तो भी मुश्किल से दिन में एक दो मुट्ठी चबेना मिल

पाता है। खाने-पीने के समय किसी के घर पहुँच जाती है, तो इसकी डीठ लग जाने के भय से घर-वालियाँ दुर-दुराने लगती हैं। कहाँ तक अपनी मुसीबतों का बयान करूँ, भाई साहब ! किसी दी हुई मुट्ठी-भर भीख लेने के लिए इसके तन पर फटा आँचल भी तो नहीं है ! इसकी छोटी अञ्जलियों में ही जो कुछ अँट जाता है, उसी से किसी तरह पेट की जलन बुझा लेती है ! कभी कभी एक-आध फंका चना-चबेना मेरे लिए भी लेती आती है ; उस समय हृदय दो टूक हो जाता है।

"किसी दिन, दिन-भर घर-घर घूम कर जब शाम को मेरे पास आकर धीमी आवाज से कहती है कि बाबूजी ! भूख लगी है—कुछ हो तो खाने को दो ; उस वक्त, आपसे ईमानन कहता हूँ, जी चाहता है कि गल-फाँसी लगा कर मर जाऊँ या किसी कुएँ-तालाब में डूब मरूँ। मगर फिर सोचता हूँ कि मेरे सिवा इसकी खोज-खबर लेने वाला इस दुनिया में अब है कौन ! आज अगर इसकी माँ भी ज़िन्दा होती, तो कूट-पीस कर इसके लिए मुट्ठी-भर चून जुटाती—किसी कदर इसकी परवरिश कर ही ले जाती ; और अगर कहीं आज मेरे बड़े भाई साहब जीवित होते, तो गुलाब के फूल-सी ऐसी लड़की को हथेली का फूल बनाये रहते। जरूर ही किसी 'राय बहादुर' के घर में इसकी शादी करते। मैं भी उनकी अंधा धुंध की कमाई पर ऐसे बेफ़िक्री से दिन गुज़ारता था कि आगे आने वाले इन बुरे दिनों की बिल्कुल खबर न थी। वे भी ऐसे खर्चीले थे कि अपने कफन-काठी के लिए भी एक फूटी कौड़ी न छोड़ गये—अपनी जिन्दगी में ही एक-एक चप्पा ज़मीन बेच खाई—गाँव-भर से ऐसी दुश्मनी बढ़ाई कि आज मेरी इस दुर्गत पर भी कोई रहम करने वाला नहीं है, उलटे सब लोग तानेज़नी के तीर बरसाते हैं। ऐक दिन वह था कि भाई साहब के पेशाब से चिराग़ जलता था, और एक दिन यह भी है कि मेरी हड्डियाँ निर्धनता की आँच से मोमबत्तियों की तरह घुल-घुल कर जल रही हैं।

"इस लड़की के लिए आस-पास के सभी जवारी भाइयों के यहाँ मैंने पचासों फेरे लगाये, दाँत दिखाये, हाथ जोड़ कर विनती की, पैरों पड़ा—यहाँ तक बेहया होकर कह डाला कि बड़े-बड़े वकीलों, डिप्टियों और जमींदारों की चुनी-चुनाई लड़कियों में मेरी लड़की को खड़ी करके देख लीजिये कि सब से सुन्दर जँचती है या नहीं, अगर इसके जोड़ की एक भी लड़की कहीं निकल आये तो इससे अपने

लड़के की शादी मत कीजिये। किन्तु मेरे लाख गिड़गिड़ाने पर भी किसी भाई का दिल न पिघला। कोई यह कह कर टाल देता कि लड़के की माँ ऐसे घराने में शादी करने से इनकार करती है जिसमें न सास है, न साला और न बारात की खातीरदारी करने की हैसियत। कोई कहता कि ग़रीब घर की लड़की चटोर और कंजूस होती है, हमारा खानदान बिगड़ जायगा। ज्यादातर लोग यही कहते मिले कि हमारे लड़के को इतना तिलकदहेज मिल रहा है, तो भी हम शादी नहीं कर रहे हैं ; फिर बिना तिलक-दहेज के तो बात भी करना नहीं चाहते। इसी तरह, जितने मुँह उतनी ही बातें सुनने में आईं। दिनों का फेर ऐसा है कि जिसका मुँह न देखना चाहिये, उसका भी पिछाड़ देखना पड़ा।

'सिर्फ़ मामूली हैसियत वाला को भी पाँच सौ और एक हज़ार तिलक-दहेज कहते देख कर जी कुढ़ जाता है—गुस्सा चढ़ आता है ; मगर ग़रीबी ने तो ऐसा पंख तोड़ दिया है कि तड़फड़ा भी नहीं सकता। हिन्दू-समाज के कायदे भी अजीब ढंग के हैं ! जो लोग मोल-भाव करके लड़के की बिक्री करते हैं, वे भले आदमी समझे जाते हैं ; और कोई ग़रीब बेचारा उसी तरह मोल-भाव करके लड़की बेचता है तो वह कमीन कहा जाता है ! मैं अगर आज इसे बेचना चाहता तो इतनी काफी रकम ऐंठ सकता था, कि कम-से-कम मेरी ज़िन्दगी तो ज़रूर ही आराम से कट जाती। लेकिन जीते-जी हरगिज़ एक मक्खी भी न लूँगा। चाहे यह क्वाँरी रहे या सयानी होकर मेरा नाम हँसाये। देखिये न, सयानी तो क़रीब-क़रीब हो ही गई है—सिर्फ़ पेट की मार से उकसने नहीं पाती, बढ़ती रुकी हुई है। अगर किसी खुशहाल घर में होती, तो अब तक फूट कर सयानी हो जाती—बदन भरने से ही खूबसूरती पर भी रोग़न चढ़ता है, और बेटी की बाढ़ बेटे से जल्दी होती भी है।

"अब अधिक क्या कहूँ, बाबू साहब ! अपनी ही करनी का नतीजा भोग रहा हूँ। मोतियाबिन्द, गठिया और दमा ने निकम्मा कर छोड़ा है। अब मेरे पछतावे के आँसुओं में भी ईश्वर को पिघलने का दम नहीं है। अगर सच पूछिये, तो इस वक्त सिर्फ़ एक ही उम्मीद पर जान अटकी हुई है। एक साहब ने बहुत कहने-सुनने से इसके साथ शादी करने का वायदा किया है। देखना है कि गाँव के खोटे लोग उन्हें भी भड़काते हैं, या मेरी झाँझरी नैया को पार लगने देते

हैं। लड़के की उम्र कुछ कड़ी ज़रूर है—इकतालिस-बयालिस साल की ; मगर अब इसके सिवा कोई चारा भी नहीं है। छाती पर पत्थर रखकर अपनी इस राज-कोकिला को ....।"

इसके बाद मुंशीजी का गला रुँध गया बहुत विलख कर रो उठे और भग-जोगिनी को अपनी गोद में बैठा कर फूट-फूट रोने लग गये। अनेक प्रयत्न करके भी मैं किसी प्रकार उनको आश्वासन न दे सका। जिसके पीछे हाथ धोकर वाम विधाता पड़ जाता है, उसे तसल्ली देना ठठा नहीं है।

* * * * *

मुंशीजी की कहानी सुनने के बाद मैंने अपने कई क्वाँरे मित्रों से अनुरोध किया कि उस अलौकिक रूपवती दरिद्र कन्या से विवाह करके एक निर्धन भाई का उद्धार और अपने जीवन को सफल करें ; किन्तु सब ने मेरी बात अनसुनी कर दी ! ऐसे ऐसे लोगों ने भी आनाकानी की, जो समाज-सुधार-सम्बन्धी विषयों पर बड़े शान-गुमान से लेखनीचलाते हैं। यहाँ तक कि प्रौढ़ावस्था के रँडुए मित्र भी राजी न हुए !

आखिर वही महाशय डोला काढ़ कर भगजोगनी को अपने घर ले गये और वहीं शादी की कुल रश्में पूरी करके मुंशीज़ी को चिंता के दलदल से उबारा।

बेचारे मुंशीजी की छाती से पत्थर का बोझ तो उतरा, मगर घर में कोई पानी देने वाला भी न रह गया। बुढ़ापे की लकड़ी जाती रही देह लच गई। साल पूरा होते-होते अचानक टन बोल गये। गाँव वालों ने गले में घड़ा बाँध कर नदी में डुबा दिया।

* * * * *

भगजोगनी जीती है। आज वह पूर्ण युवती है। उसका शरीर भरा-पूरा और फूला-फला है। शोक है कि उसका सुहाग उसे विलपती छोड़ कर इस संसार से किनारा कर गया ! हा भगजोगनी !

—श्रीशिवपूजन सहाय

———

## गतिशील चिन्तन

स्टेशन की सीमा से बाहर निकलते ही एकाश्ववाही रथों के अनेक चाबुकधारी सारथी धावा बोल बैठे। एक भले आदमी ने चाबुकास्त्र को बग़ल में दबाते हुए हाथ का सूटकेस खींच लिया। मैं अभी कुछ कहने जा ही रहा था कि एक दूसरे भीमकाय पुरुष-पुङ्गव ने ललकारते हुए उसे एक धक्का लगाया। 'खबरदार! मेरी सवारी है'—इस हुँकार के साथ उसने पूर्वतन दस्यु को 'युद्धं देहि' की चुनौती दी। फिर मेरी ओर घूमकर बोला—बाबूजी सलाम! इस बार तो बहुत दिन पर दरसन भया सरकार!—मैंने देखा, मेरा पुराना परिचित एक्केवान है। बोला—हाँ भई, तीन वर्ष पर लौट रहा हूँ। कुसल-छेम तो है न।

एक्केवान ने कहा—मेहरबानी है हजूर, आपकी दया से सब आनन्द मंगल है।

पूर्वतन दस्यु पहले तो कुछ गुर्राया, बाद को रंग-ढंग देखकर एकाध परुष वाक्य बाण के निक्षेप के बाद युद्ध से निरस्त हो गया। मेरा सारथी आगे-आगे चला, मैं पीछे हो लिया। एकाश्व-रथ सुसज्जित तैयार था। उसके छत्र और दण्ड यथेष्ट जीर्ण थे, पर पिछले दस वर्ष से वे मेरे परिचित हो गए थे। मैं रथी रूप में आसीन हुआ, सारथी ने अश्व के साथ अपना पिता-पुत्र सम्बन्ध स्मरण करते हुए चाबुक सँभाला।

नगर की सीमा पार करने के बाद मेरे रथ ने ग्राम-सीमा में प्रवेश किया। मुझे हजार-डेढ़-हज़ार वर्ष पहले की अवस्था याद आ गई। समुद्रगुप्त एक दिन इसी प्रकार रथ पर चढ़कर नगर से बाहर निकले होंगे। पौर-युवतियाँ गवाक्ष खोलकर अतृप्त नयनों से उन्हें देखती रह गई होंगी; नागरिक कन्यायें क़तार बाँधकर मार्ग के दोनों ओर खड़ी हो रही होंगी; आचार-लाजों और वेदाध्यायी ब्राह्मणों के उत्क्षिप्त मांगल्य से राजमार्ग भर गया होगा—मेरे लिये यह सब कुछ भी नहीं हुआ। समुद्रगुप्त के रथ में शायद चार घोड़े होंगे, उसके छत्र-दण्ड में सुवर्ण और रत्नों का आधिक्य रहा होगा और उनका सारथी कुछ संस्कृत-प्राकृत जानता रहा होगा। मेरे रथ से उसका अन्तर इतना ही भर रहा होगा। आज हजारों वर्ष बाद समुद्रगुप्त के देश का ही एक और आदमी रथस्थ होकर बाहर

निकला हूँ। समुद्रगुप्त सम्राट् थे, मैं साम्राज्य का घोर शत्रु। फिर भी मैं वह आदमी था जो अदना होकर भी सारे जगत् के राजनीति-विशारदों को चैलेञ्ज करने की हिम्मत रखता था। समुद्रगुप्त जब रथस्थ होकर बाहर निकले होंगे, तो दृप्त हृदय से और कम्पमान मस्तिष्क से छोटे-मोटे राज्यों का उच्छेद करने की बात सोचते जा रहे होंगे, मैं दृप्त मस्तिष्क से संसार के सब से बड़े साम्राज्य को ध्वंस करने की बात सोच रहा था और कम्पमान हृदय से भूख से तड़पती हुई असंख्य जनता के दुःख और दारिद्र्य का उन्मूलन करना चाहता था। फिर भी समुद्रगुप्त भारतवर्ष के अतीत सम्राट् थे, मैं साम्राज्यविरोधी भावी सेना का अदना सिपाही। कवि एक दिन शायद इस अज्ञातनामा युवक के कीर्तिकलाप का भी चित्रण करेगा, उस दिन यह जवाहर कवच, यह गान्धी मुकुट, यह अक्षय-तूणीर झोला, यह एकाश्वरथ, यह चाबुक-वाही सारथी ; यह पौर-युवतियों के लीला-कटाक्ष से अवहेलित रथ-घर्घर, यह आचार-लाज-विरहित राज मार्ग, सब कुछ उसके कल्पना-नेत्रों के सामने खिंच जायँगे। मैं समाजवाद के अग्निगर्भ-संदेश का वाहक महा-रथी उसके सहानुभूति—शिशिर नयन-वाष्प से स्नात होकर अत्यन्त उज्ज्वल वेश में अंकित हो जाऊँगा।

मैं सोचता जाता था, मेरा रथ आगे बढ़ता जा रहा था। आखिर समाजवाद इतना प्रिय और आकर्षक सिद्धान्त क्यों है? साथ ही मेरे मन में सवाल उठा, पेटेन्ट दवाइयाँ इतनी लोकप्रिय क्यों हैं? क्या इन दोनों में कोई समानता है? किसी अखबार को खोलिए, उसके अधिकांश पन्ने दो ही प्रकार के संवादों से भरे मिलेंगे। कहीं पर समाजवाद के और कहीं पर पेटेन्ट दवाइयों के। साधारण जनता उलझनों में पड़ना नहीं चाहती, वह सस्ता और सहज मार्ग खोजती है। समाजवाद शायद ऐसा ही मत हो, पेटेन्ट दवाइयाँ शायद ऐसी ही दवाइयाँ हों। एक दिन जब भारतवर्ष में समाजवादी सरकार स्थापित हो जाएगी उस दिन शायद यह एकाश्वरथ न रहेगा, यह पाताल-पाती राजमार्ग शायद कुछ सुधर गया रहेगा, उस दूर की झोपड़ी में शायद विद्युद्वर्तिका का प्रकाश रहेगा। पर वह चीज़ क्या मिलेगी जिसे सुख कहते हैं? कोई गारन्टी नहीं? और फिर जिस दिन समुद्रगुप्त जानपद-बन्धुओं के 'भ्रूविलासानभिज्ञ कटाक्षों' को धन्य करते हुए, ग्राम-वृद्धों को कुशल-प्रश्न से और घोष-वृद्धों के निकटवर्ती तरुगुल्मों का नाम पूछकर

कृत-कृत्य करते हुए चले होंगे, उस दिन भी क्या वह चीज़ सुलभ थी? कुछ ठीक पता नहीं! कौन जानता है क्या था और क्या होनेवाला है! आज न समुद्रगुप्त का साम्राज्य है और न समाजवाद का रामराज्य! आज है इस निरुपाय निरन्न निर्वाक् मूढ़ जनता की बेतुकी भीड़—जो जीते हैं, इसलिये कि मौत नहीं आ जाती और मरते हैं इसलिये कि जीने का कोई रास्ता नहीं।

अचानक एक धक्का लगा; मेरी चिन्ता और शरीर दोनों में ही, पर रोमांच कहीं नहीं हुआ। सारथी ने कहा—सड़क बड़ी खराब है हुजूर! मैं हंसकर रह गया। साफ़ मालूम हुआ गुप्तकाल और अंग्रेज़काल में बड़ा अन्तर है। ईश, वल्गा, छत्र, दण्ड, चक्र और रथ-घर्घर में परिवर्तन क्षम्य है पर धक्के में तो परिवर्तन असह्य है। हिमालय के उस विषम पार्वत्य-पथ पर एक दिन मातलि नामक कोई सारथी भी रथ हाँक रहा था और यह मेरा सारथी भी एक अभ्रचुम्बी और पाताल-पाती राजमार्ग पर अपना रथ हाँक रहा है। उस दिन उर्वशी और पुरूरवा उसपर बैठे थे, एकाध और सुन्दरियाँ भी रही होंगी, धक्का उस दिन भी लगा था, पर वहाँ शरीर और चिन्ता दोनों ही सिहर उठे थे, रोमांच, स्वेद और हृत्कम्प का एक साथ ही आक्रमण हुआ था। हाय! कौन जाने मेरे चरित्र-काव्य के भावी कालिदास को यह धक्का याद भी आएगा या नहीं। अगर आए तो समाजवाद के इस अग्रदूत का यह अपमानित, अवहेलित धक्का वह कभी नहीं भूलेगा। उसे अपने अग्निगर्भ-असन्तोष उद्‌गीरण करनेवाले महाकाव्य में इस भयानक अनर्थ का चित्रण ज़रूर करना होगा। साम्राज्यवाद और 'बुर्जुआ' मनोभाव पर भी इसी बहाने उसे एक ठोकर ज़रूर मारते जाना पड़ेगा।

आज का कोई युवक यह नहीं कहता कि केवल वही सत्य बात कह रहा है, बाक़ी लोग या तो सारे संसार को या अपने आपको धोखा दे रहे हैं। पर सबके कहने का सारांश यही होता है। मैं भी इस बात को या इसी प्रकार की एक बात को कहने का अभ्यस्त रहा हूँगा। इसीलिये उस दिन मैंने एक बार लिखा था कि उस आर्ट का मूल्य ही क्या हो सकता है जिसे समझने के लिये बीस वर्ष लगातार शिक्षा की आवश्यकता हो? ऐसी कला से उस कोटि-कोटि निरन्न निर्वस्त्र जनता का क्या फ़ायदा है जिसके रक्त को चूसकर ही ये कलाकार और ये कला-कोविद मोटे हो रहे हैं! जिस नृत्यभंगी को समझने के लिये भरत और नंदिकेश्वर का

अध्ययन करना पड़े उसमें वास्तव में जीव नहीं है, वह प्रगतिविरोधी है, वह 'बुर्जुआ' मनोभाव को प्रश्रय देती है। कालिदास से लेकर रवीन्द्रनाथ तक सभी उसी निष्प्राण और 'बुर्जुआ' मनोभाव के पोषक काव्य-कला के कलाकार हैं! आज इस एकाश्ववाही रथ पर बैठने से मेरे मन में कुछ-कुछ सम्राट का आवेश संचरित हुआ होगा। शायद मेरे अवचेतन मन के समुद्रगुप्त ने आज मेरे चेतन मन को अभिभूत कर लिया होगा। आज मैं सोचता जा रहा था, क्या सचमुच कला भी गरीबों के लिये हो सकती है? समाजवाद गरीबों के लिये है, या गरीबों के ध्वंस के लिये? वह जो चिथड़ों में लिपटी हुई ज्वराक्रान्त बुढ़िया कराहती हुई हाथ में तैल-किट्ट-कलुष-शीशी लिये नगरी के चिकित्सालय की ओर भागी जा रही है, कला का निर्माण क्या उसीके लिये होगा? या मारिये गोली कला को! रामराज्य की भारी-भरकम भित्ति क्या इन्हीं मुर्दे कन्धों पर स्थापित होगी? हर्गिज़ नहीं। समाजवाद इन मूढ़, निर्वाक्, दलित, अपमानित, हीन-निर्वीर्य और तेजोहीन पुरुष और स्त्रियों का ध्वंस कर देगा। अवश्य विशेषण को, विशिष्यमाण को नहीं। इन्हीं निर्वीर्य जनसमूह से तेजोदृप्त जनसमूह का अवतार होगा। पहले राम का अवतार, फिर रामराज्य की स्थापना!

'अब की बार तो सरकार को आप लोगों ने हरा दिया न हुजूर?'

दीर्घकाल के मौन को तोड़ने की इच्छा ही शायद मेरे एकाश्ववाही-रथ के सारथी के इस प्रश्न का कारण थी। पिछले निर्वाचन में कांग्रेस ने इस प्रान्त में सचमुच गर्व-योग्य विजय प्राप्त की थी। मैं बंगाल से आ रहा था। वहां के किसी मजदूर ने ऐसा प्रश्न नहीं किया था। इसलिये नहीं कि बंगाल का मजदूर कुछ ज्यादा बुद्धिमान होता है और वह ठीक जानता है कि निर्वाचन में जीतने या हारने से सरकार का कुछ बनता बिगड़ता नहीं, बल्कि इसलिये कि बंगाल में कांग्रेस की ऐसी जीत हुई ही नहीं थी, और इसलिये जन-साधारण में कांग्रेसवादियों ने बहुत अधिक विज्ञापन करने की आवश्यकता नहीं समझी थी। शायद इसका कारण यह भी रहा हो कि मैं बंगाल के जिस कोने से आ रहा था वह राजनैतिक केन्द्र की अपेक्षा साहित्यिक केन्द्र अधिक था। वर्तमान राजनीति का हो-हल्ला वहाँ कम सुनाई देता है।

टालने के लिये मैंने संक्षेप में जवाब दिया—देखते चलो भाई, अभी देर है!—मगर यह ग़रीब देखेगा क्या? इसे तात्कालिक राजनीति का कुछ भी तो पता नहीं, मेरे ही जैसे गान्धी-मुकुट-धारी किसी समाजवादी अदना सम्राट्(?)ने उसे निर्वाचन के पहले समझाया होगा कि अब मजदूरों का राज्य होने वाला है, बस, इसमे किसी कांग्रेस-मनोनीत सदस्य को वोट देने भर की देर है! लेकिन मैं सोचता रहा इस प्रचार का परिणाम भयंकर भी तो हो सकता है। कुसंस्कारों से आपाद-मस्तक लदी हुई, इस अशिक्षित जनता को समझाया भी क्या जा सकता है? कहते हैं, जमाना बदल गया है, आज का मज़दूर और किसान कुछ तार्किक हो गया है, वह अपने पूर्वजों की तरह प्राचीन परम्परा को अपरिवर्तनीय विधान मानने को तैयार नहीं है। लेकिन कहाँ! तीन वर्ष के प्रवास के बाद आज लौट रहा हूँ, देखता हूँ, अब भी हिस्टीरिया की दवा ओझे का डंडा है, मलेरिया में अभी भी लोहवान और लाल मिर्च का धुआँ उपादेय समझा जाता है, गण्डे-तावीज़ की अमोघता में कोई भी अन्तर नहीं आया—सारी रेलगाड़ी तो इस बात का ही सबूत थी! और यह एक्कावान पूछता है कि सरकार की हार हुई या नहीं। सोलह वर्ष पहले इन्हीं गाँवों में यह समाचार बड़ी तेज़ी से फैल गया था कि गांधी जी को अहमदाबाद में तोप से उड़ा दिया गया है और वे दिल्ली में लाट साहब के घर के सामने चर्खा कातते पाए गए हैं! आज भी इस प्रकार का समाचार उसी आसानी से फैलाया जा सकता है। आज जब मेरे सारथी ने सरकार की हार को विश्वास के साथ मान लिया है तो मैं सोच रहा हूँ, तोपवाली बात में और मज़दूरों के राजवाली बात में क्या कोई समानता नहीं है? दोनों ही आकाश कुसुम हैं!

लेकिन यह ठीक है कि यह राज्य-व्यवस्था, यह समाज-व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं टिकेगी। मजदूरों में बल संचय होगा। वे अपना अधिकार पावेंगे। हे मेरे अभागे देश! तुमने जिन कोटि-कोटि नर-नारियों का अपमान किया है, अधिक नहीं तो, चिताभस्म के ऊपर एक दिन तुम्हें उन सबके समान होना ही पड़ेगा। तुमने मनुष्य-देवता का अपमान किया है, वे तुमसे रूठ गये हैं। शत शत शताब्दियों से पददलित यह असंख्य जन समुदाय तुम्हें आगे नहीं बढ़ने देगा। जो नीचे पड़े हैं वे पैर पकड़ कर तुम्हारा चलना दूभर कर देंगे। अपमानित, अवहेलित,

दलित और निष्पेषित के समान अगर तुम भी नहीं हो जाते तो तुम्हारा नाश अवश्यंभावी है। मैंने कल्पना के नेत्रों से देखा कि मैं एक वज्रकपाट-पिहित अन्धकाराच्छन्न कठोर क़िले में घुस रहा हूँ। इसका भेद करना आसान नहीं। भावावेश में मैं मन-ही-मन रवीन्द्रनाथ का एक गान गाने लगा जिसमें बताया गया है कि 'ऐ अभागे, तेरी पुकार सुनकर अगर तेरा साथ देने कोई न आये तो अकेला ही चल ; अगर सामने घोर अन्धकार दिख पड़े तो वक्षस्थल की हड्डी खींचकर मशाल जला ले और अकेला ही चल पड़!!' मैं अपने को छिन्न-कार्मुक योद्धा की भाँति दिग्मूढ़ नहीं पा रहा था ; बल्कि अधिज्यधन्वा धनुर्धर की भाँति निर्भीक आगे बढ़ रहा था। ऐ मेरे भावी कालिदास, भूल न जाना !

फिर एक धक्का ; मेरे सारथी ने कहा—बाबूजी, गंगा मैया ने रास्ता तोड़ दिया, थोड़ी दूर पैदल ही चलना होगा। 'बहुत अच्छा'—कह कर मैंने अनुरोध-पालन किया। मेरी दाहिनी ओर गंगा मैया लापरवाही से बह रही थीं। कुछ महीने पहले ही इन्होंने भी साम्यवाद का प्रचार किया था। आसपास के गाँवों के धनी दरिद्र सबको एक समान भूमि पर ला खड़ा किया था। अब ये विश्रान्त भाव से बह रही थीं। मैंने उनके अनजान में ही एक बार प्रणाम कर लिया। मेरे मन में उस समय एक अटूट निरवच्छिन्न परम्परा के प्रति एक कोमल भाव रहा होगा। उस समय मैं एक बार याद करता था उन लाख-लाख अनुद्गत-यौवना कुमारी ललनाओं को जिन्होंने अनादि काल से अभिलषित वर की कामना से गंगा मैया के इस स्रोत में लाख-लाख मांगल्य-दीप बहा दिए होंगे। फिर याद आई मुक्तिकाम महात्माओं की जिनके तपःपूत ललाट का असंख्य प्रणिपात गंगा की प्रत्येक तरंग ढोती जा रही थी। और अन्त में याद आई गुप्तकाल की ललनाएँ जिनके वदन-चंद्र के लोध्ररेणु से नित्य गंगा का जल पांडुरित हो जाता रहा होगा, जिनके चंचल लीला-विलास से बाह्य प्रकृति का हृदय चटुल भावों से भर जाता रहा होगा, गज-शावक उत्सुकता के साथ करेणुका को पंकज रेणु-गंधि गण्डूषजल पिला दिया करता होगा, अर्द्धोपभुक्त मृणाल-खण्ड से ही चक्रवाक युवा प्रिया को सम्मानित करने लग जाता होगा, क्षण भर के लिए सैकतचारी हंसमिथुन पीछे फिरकर स्तब्ध हो रहते होंगे। गुप्तकाल के वसन्त काल में और आज के वसन्त काल में कितना अन्तर है ! वह जो सामने अशोक नामधारी वृक्ष धूलिधूसर

होकर ज़िन्दगी के दिन काट रहा है, उन दिनों, आसिंजित-नूपुर चरणों के आघात की भी इन्तज़ारी नहीं करता था, वसन्त देवता के आते ही कन्धे पर से ही फूट उठता था ; पर आज ! आज की बात मत पूछिये। मुझे साफ़ मालूम हो रहा था कि गंगा की प्रत्येक बूँद के अन्तस्तल में गुप्तकाल के आसिंजित-नूपुर की झनकार अनुरणित हो रही है। अब भी इसीलिए गंगा की तरंगें मस्त हैं, लापरवाह हैं, सतेज हैं। उस नशे की खुमारी अब भी दूर नहीं हुई है। और हम मनुष्य कहलाने वाले जीव इतने गए-बीते हैं कि कुछ पूछो ही नहीं।

डिफीटेड मेन्टैलिटी—पराजित मनोभाव ! सामने दुर्भेद्य अज्ञान दुर्ग है ; बाहर का शोषण और भीतर की लूट जारी है ; और तुम गुप्तकाल के स्वप्न देख रहे हो। इसे ही पराजित मनोभाव कहते हैं। आज का हरेक कवि, हरेक लेखक इसी पराजित मनोभाव का शिकार है। अंग्रेजकाल गुप्तकाल नहीं है ! वर्तमान अतीत जैसा मोहक नहीं है। उज्जयिनी की अभिसारिकाएँ न जाने कौन-सी गुदगुदी पैदा करके और न जाने कौन-सा वैराग्य उद्रिक्त करके अस्त हो गई। आज बड़े बड़े नगरों के वेश्यालय देश की समस्त नैतिकता, समग्र काव्य-कला, समग्र आचार परम्परा पर मानो बड़े प्रश्नवाचक चिन्ह हैं। वर्तमान युग युवती विधवाओं द्वारा अभिशप्त है, अपमानित दलित सधवाओं द्वारा अवरुद्ध है, निरुपाय सामान्याओं द्वारा कलंकित है। इस असौन्दर्य के ढूह में काव्यकला टिक नहीं सकती। साफ़ करो पहले इस जंजाल को, इस कूड़ा को, इस आवर्ज्जना को, इस अन्धकार को।

फिर मैं सोचने लगा—अतीत क्या चला ही गया ? अपने पीछे क्या हम एक विशाल शून्य मरुभूमि छोड़ते जा रहे हैं। आज जो कुछ हम कर रहे हैं, कल क्या वह सब लोप हो जायगा ? कहाँ जायगा यह ? मैं किसी तरह विश्वास नहीं कर सका कि अतीत एकदम उठ गया है। मुझे साफ़ दिख रहा है, इसी गंगा की तरह मस्त भाव से बहती हुई सिप्रा की लोल तरंगों पर बैठे हुए कवि कालिदास उज्जयिनी के सौध-निहित वातायनों की ओर देख रहे हैं। हाय, कहीं मैं भी उनके साथ होता ! सिप्रा की प्रत्येक ऊर्मि अप्सराओं के रूप में मुहूर्त भर को लालायित करके लुप्त होती जा रही है। कवि के नयनों के सामने शत-शत विकच कमल किन्नरों के रूप में विकसित होते जा रहे हैं। तटभूमि पर कहीं

अलकार्पित कर्णिकार, आगण्ड-विलंबि-केसर शिरीष, कहीं विस्रस्त-वेणीच्युता अशोक मंजरी, कहीं त्वरा-परित्यक्त लीला कमल अम्लान भाव से बिखरे पड़े हैं। मैं स्पष्ट देखता हूँ अतीत कहीं गया नहीं है। वह मेरे रग-रग में सुप्त है। ना, अतीत एक विशाल मरु-भूमि कभी नहीं है!

सत्य क्या है? वे जो दो ग्वाल-बाल नग्नप्राय अवस्था में खड़े हैं, शरीर उनका अस्थि-पंजर-मात्र अवशिष्ट है, चेहरा उनका भारतवर्ष का नक़शा है—(दोनों गाल दोनों समुद्र और चिबुक कुमारिका अन्तरीप!) पेट उनका सारे जगत् का अनुकारी विशाल ग्लोब है—यही क्या भारतवर्ष है? यही क्या सत्य है? हे उच्छिन्न-वीर्य कंकाल-शेष भारतवर्ष, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ, लेकिन मेरा मन यह नहीं मानना चाहता कि इन चर्म-चक्षुओं के सामने जो कुछ हिल-डोल रहा है वही सत्य है—'जाहा घटे ताहा सब सत्य नहे!'

भारतवर्ष!—उपयुक्त रास्ते पर सारथी के अनुरोध पर फिर रथारूढ़ होते हुए मैंने सोचा—हज़ार-हज़ार जाति और उपजातियों में विभक्त, शत-शत साधु सम्प्रदायों द्वारा जर्जरीकृत, विविध आचार परम्परा का शतच्छिद्र कलश, भारतवर्ष!! यही क्या सत्य है? या विराट् मानव महासमुद्र भारतवर्ष, जहाँ आर्य और अनार्य, शक और हूण, चैनिक और तुरुष्क, मुग़ल और पठान एक दिन दृप्तवीर्य होकर आये और सब भूलकर एक हो रहे!! 'हे मेरे चित्त, भारत रूप इस महा-मानव-समुद्र के पुण्यतट पर स्थिर भाव से जगा रह'। कौन जाने किस विधाता ने किन महा-रत्नों को मथ निकालने के लिए यहाँ उत्कट देवासुर युद्ध का विधान किया है? भारतवर्ष का अतीत उसके साथ है, वर्तमान उसके आगे है और वह सुदूर उदयाचल के पास सुवर्ण-ज्योति झिलमिला रही है, वही उसके तेजोमय भविष्य की निशानी है। इसका प्रथम प्रकाश मेरे इस दुग्ध-धवल गान्धी-किरीट पर ही पड़ रहा है।

मेरा रथ अब गन्तव्य पर आ गया!

—श्रीहज़ारीप्रसाद द्विवेदी

———

## ताज

मनुष्य को स्वयं पर गर्व है। वह स्वयं को जगदीश्वर की उत्कृष्टतम तथा सर्वश्रेष्ठ कृति समझता है। वह अपने व्यक्तित्व को चिरस्थायी बनाना चाहता है। मनुष्य जाति का इतिहास क्या है? उसके सारे प्रयत्नों का केवल एक ही उद्देश्य है। चिरकाल से मनुष्य यही प्रयत्न कर रहा है कि किसी प्रकार वह उस अप्राप्य अमृत को प्राप्त करे, जिसे पीकर वह अमर हो जाय। किन्तु अभी तक उस अमृत का पता नहीं लगा। यही कारण है कि जब मनुष्य को प्रति दिन निकटतम आती हुई रहस्यपूर्ण मृत्यु की याद आ जाती है, तब उसका हृदय बेचैनी के मारे तड़पने लगता है। भविष्य में आने वाले अपने अन्त के तथा उसके अनन्तर अपने व्यक्तित्व के ही नहीं, अपने सर्वस्व के, विनष्ट होने के विचार मात्र से ही मनुष्य का सारा शरीर सिहर उठता है। वह चाहता है कि किसी भी प्रकार इस अप्रिय कठोर सत्य को वह भूल जाय, और उसे ही भुलाने के लिए, अपनी स्मृति से, अपने मस्तिष्क से उसे निकाल बाहर करने ही को कई बार मनुष्य सुख-सागर में मग्न होने की चेष्टा करता है। कई व्यक्तियों का हृदय तो इस विचार मात्र से ही विकल हो उठता है कि समय के उस भयानक प्रवाह में वे स्वयं ही नहीं, किन्तु उनकी समग्र वस्तुएँ, स्मृतियाँ, स्मृति-चिह्न आदि सब कुछ बह जायँगे; इस संसार में तब उनके सांसारिक जीवन का चिह्न मात्र भी न रहेगा और उनको याद करने वाला भी कोई न मिलेगा। ऐसे मनुष्य इस भौतिक संसार में अपनी स्मृतियाँ —अमिट स्मृतियां—छोड़ जाने को विकल हो उठते हैं। वे जानते हैं कि उनका अन्त अवश्यम्भावी है, किन्तु सोचते हैं कि सम्भव है उनकी स्मृतियाँ संसार में रह जायँ। पिरेमिड, स्फ़िंक, बड़े बड़े मक़बरे, कीर्तिस्तम्भ, कीलियाँ, विजयद्वार, विजय-तोरण आदि कृतियाँ मनुष्य की इसी इच्छा के फल हैं। एक तरह से देखा जाय तो इतिहास भी अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने की मानवीय इच्छा का एक प्रयत्न है। यों अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए मनुष्य ने भिन्न भिन्न प्रयत्न किए; किसी ने एक मार्ग का अवलम्बन किया, किसी ने दूसरी राह पकड़ी। कई एक विफल हुए; अनेकों के ऐसे प्रयत्नों का आज मानव-समाज की स्मृति पर चिह्न तक विद्यमान नहीं है। बहुतों के तो ऐसे प्रयत्नों के खण्डहर

आज भी संसार में यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। वे आज भी मूक भाव से मनुष्य की इस इच्छा को देख कर हँसते हैं और साथ ही रोते भी हैं। मनुष्य की विफलता पर तथा अपनी दुर्दशा पर वे आँसू गिराते हैं। परंतु यह देख कर कि अभी तक मनुष्य अपनी विफलता का अनुभव नहीं कर पाया, अभी तक उसकी वही इच्छा, उसकी वही दुराशा उसका पीछा नहीं छोड़ती है, मनुष्य अभी तक उन्हीं के चंगुल में फँसा हुआ है, वे मूकभाव से मनुष्य की इस अद्भुत मृगतृष्णा पर विक्षिप्त कर देने वाला अट्टहास करते हैं।

परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क विधाता की एक अद्वितीय कृति है। यद्यपि समय के सामने किसी की भी नहीं चलती, तथापि कई मस्तिष्कों ने एसी खूबी से काम किया, उन्होंने ऐसी चालें चलीं कि समय के इस प्रलयंकारी भीषण प्रवाह को भी बाँधने में वे समर्थ हुए। उन्होंने काल को सौन्दर्य के अदृश्य किन्तु अचूक पाश में बाँध डाला है; उसे अपनी कृतियों की अनोखी छटा दिखा कर लुभाया है; यों उसे भुलावा देकर कई बार मनुष्य अपनी स्मृति के ही नहीं, किन्तु अपने भावों के स्मारकों को भी चिरस्थायी बना सका है। ताजमहल भी मानव मस्तिष्क की ऐसी ही अद्वितीय सफलता का एक अद्भुत उदाहरण है। किन्तु सौन्दर्य का वह अचूक पाश......समय के साथ मनुष्य भी उसमें बँध जाता है; समय का प्रलयंकारी प्रवाह रुक जाता है, किन्तु मनुष्य के आँसुओं का सागर उमड़ पड़ता है; समय स्तब्ध होकर अब भी उस समाधि को ताक रहा है। सूरज निकलता और अस्त हो जाता है, चाँद घटता और बढ़ता है, किन्तु ताज की वह नव-नूतनता आज भी विद्यमान है; शताब्दियों से बहने वाले आँसू ही उस सुन्दर समाधि को धो धोकर उसे उज्ज्वल बनाए रखते हैं।

* * * * * *

वह अंधकारमयी रात्रि थी। सारे विश्व पर घोर अंधकार छाया हुआ था, तो भी जग सोया न था। संसार का ताज, भारतीय साम्राज्य का वह जगमगाता हुआ सितारा, भारत-सम्राट् के हृदय-कुमुद का वह समुज्ज्वल चाँद आज सर्वदा के लिए अस्त होने को था। शिशु को जन्म देने में माता की जान पर आ बनी थी। स्नेह और जीवन की अन्तिम घड़ियाँ थीं; उन सुखमय दिनों का, प्रेम

तथा आह्लाद से पूर्ण छलकते हुए उस जीवन का अब अन्त होने वाला था। संसार कितना अचिरस्थायी है !

वह टिमटिमाता हुआ दीपक, भारत-सम्राट् के स्नेह का वह जलता हुआ चिराग़ बुझ रहा था। अब भी स्नेह बहुत था, किन्तु अकाल काल का झोंका आया ; वह झिलमिलाती हुई लौ उसे सहन नहीं कर सकी। धीरे धीरे प्रकाश कम हो रहा था ; दुर्दिन की काली घटाएँ उस रात्रि के अन्धकारको अधिक कालिमामय बना रही थीं ; आशा-प्रकाश की अन्तिम ज्योति-रेखाएँ निराशा के उस अन्धकार में विलीन हो रही थीं। और तब .... सब अँधेरा ही अँधेरा था।

इस सांसारिक जीवन-यात्रा की अपनी सहचरी, प्राणप्रिया से अन्तिम भेंट करने शाहजहाँ आया। जीवन-दीपक बुझ रहा था, फिर भी अपने प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को देख कर पुनः एक बार लौ बढ़ी ; बुझने से पहले की ज्योति हुई, मुमताज़ के नेत्र खुले। अन्तिम मिलाप था। उन अन्तिम घड़ियों में, उन आँखों द्वारा क्या क्या मौनालाप हुआ होगा, उन प्रेमियों के हृदयों में कितनी उथल-पुथल मची होगी, उसका कौन वर्णन कर सकता है ? प्रेमाग्नि से धधकते हुए उन हृदयों की वे बातें लेखक की यह कठोर लेखनी काली स्याही से पुते हुए मुँह से नहीं लिख सकती।

अन्तिम क्षण थे, सर्वदा के लिए वियोग हो रहा था ; देखती आँखों शाहजहाँ का सर्वस्व लुट रहा था और वह भारत-सम्राट् हताश हाथ पर हाथ धरे बेबस बैठा अपनी किस्मत को रो रहा था। सिंहासनारूढ़ हुए कोई तीन वर्ष भी नहीं बीते थे कि उसकी प्रियतमा इस लोक से बिदा लेने की तैयारी कर रही थी। शाहजहाँ की समस्त आशाओं पर उसकी सारी उमंगों पर पाला पड़ रहा था। क्या क्या उम्मीदें थीं, क्या क्या अरमान थे ? जब समय आया, उनके पूर्ण होने की आशा थी, तभी शाहजहाँ को उसकी जीवन-संगिनी ने छोड़ दिया। ज्योंही सुख-मदिरा का प्याला ओंठों को लगाया कि वह प्याला अनजाने गिर पड़ा, चूर चूर हो गया और वह सुख-मदिरा मिट्टी में मिल गई, पृथ्वीतल में समा गई, सर्वदा के लिए अदृश्य हो गई।

हाय ! अन्त हो गया, सर्वस्व लुट गया। परम प्रेमी, जीवनयात्रा का एकमात्र साथी सर्वदा के लिए छोड़ कर चल बसा। भारतसम्राट् शाहजहाँ की

प्रेयसी, सम्राज्ञी मुमताजमहल सदा के लिए इस लोक से बिदा हो गई। शाहजहाँ भारत का सम्राट् था, जहान का शाह था, परन्तु वह भी अपनी प्रेयसी को जाने से नहीं रोक सका। दार्शनिक कहते हैं, जीवन एक बुदबुदा है, भ्रमण करती हुई आत्मा के ठहरने की एक धर्मशाला मात्र है। वे यह भी बताते हैं कि इस जीवन का संग तथा वियोग क्या है—एक प्रवाह में संयोग के साथ बहते हुए लकड़ी के टुकड़ों के साथ तथा विलग होने की कथा है। परन्तु क्या ये विचार एक संतप्त हृदय को शान्त कर सकते हैं? क्या ये भावनाएँ चिरकाल की विरहाग्नि में जलते हुए हृदय को सान्त्वना प्रदान कर सकती हैं? सांसारिक जीवन की व्यथाओं से दूर बैठा हुआ जीवन-संग्राम को एक तटस्थ दर्शक चाहे कुछ भी कहे, किन्तु जीवन के इस भीषण संग्राम में युद्ध करते हुए सांसारिक घटनाओं के घोर थपेड़े खाते हुए हृदयों की क्या दशा होती है, यह एक भुक्तभोगी ही बता सकता है।

* * * * * *

वह चली गई, सर्वदा के लिए चली गई। अपने रोते हुए प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को, अपने बिलखते हुए प्यारे बच्चों को तथा समग्र दुःखी संसार को छोड़ कर उस अँधियारी रात में न जाने वह कहाँ चली गई। चिरकाल का वियोग था। शाहजहाँ की आँख से एक आँसू ढलका, उस सन्तप्त हृदय से एक आह निकली।

वह सुन्दर शरीर पृथ्वी की भेंट हो गया; यदि कुछ शेष था तो उसकी वह सुखप्रद स्मृति, तथा उसकी स्मृति पर उसके उस चिर वियोग पर आहें, निश्वासें और आँसू। संसार लुट गया और उसे पता भी न लगा। संसार की वह सुन्दर मूर्त्ति मृत्यु के अदृश्य क्रूर हाथों चूर्ण हो गई; और उस मूर्त्ति के वे निर्जीव अवशेष! .....जगन्माता पृथ्वी ने उन्हें अपने अंचल में समेट लिया।

शाहजहाँ के वे आँसू तथा वे आहें विफल न हुईं। उन तप्त आँखों तथा उस धधकते हुए हृदय से निकल कर वे इस बाह्य जगत में आए थे। वे भी समय के साथ सर्द होने लगे। समय के ठंडे झोंकों की थपकियाँ खाकर उन्होंने एक ऐसा सुन्दर स्वरूप धारण किया कि आज भी उन्हें देखकर न जाने कितने आँसू ढलक पड़ते हैं, और न जाने कितने हृदयों में हलचल मच जाती है। अपनी प्रेयसी के वियोग पर बहाए गए शाहजहाँ के वे आँसू चिरस्थायी हो गए।

सब कुछ समाप्त हो गया था, किन्तु अब भी एक आशा शेष रही थी। शाहजहाँ का सर्वस्व लुट गया था, तो भी उस स्तब्ध रात्रि में अपनी प्रियतमा के प्रति उस अन्तिम भेंट के समय किए गए अपने प्रण को वह नहीं भूला था। उसने सोचा कि अपनी प्रेयसी की यादगार में, भारत के ही नहीं संसार के उस चाँद की उन शुष्क हड्डियों पर एक ऐसी क़ब्र बनावे कि वह संसार भर के मक़बरों का ताज हो। शाहजहाँ को सूझी कि अपनी प्रेयसी की स्मृति को तथा उसके प्रति अपने अगाध विशुद्ध प्रेम को स्वच्छ श्वेत स्फटिक के सुचारु स्वरूप में व्यक्त करे।

धीरे धीरे भारत की उस पवित्र महानदी यमुना के तट पर एक मक़बरा बनने लगा। पहले लाल पत्थर का एक चबूतरा बनाया गया ; उस पर सफ़ेद संगमरमर का ऊँचा चौतरा निर्माण किया गया, जिसके चारों कोनों पर चार मीनार बनाए गए जो बेतार के तार से चारों दिशाओं में उस सम्राज्ञी की मृत्यु का समाचार सुना रहे हैं और साथ ही उसका यशोगान भी कर रहे हैं। मध्य में शनैः शनैः मक़बरा उठा। यह मक़बरा भी उस श्वेत वर्ण वाली सम्राज्ञी के समान श्वेत तथा उसी के समान सौन्दर्य में अनुपम तथा अद्वितीय है। अंत में उस भव्य मक़बरे को एक अतीव सुन्दर सुडौल महान् गुम्बज़ का ताज पहनाया गया।

पाठको ! उस सुन्दर मक़बरे का वर्णन पार्थिव जिह्वा भी नहीं कर सकती, फिर इस बेचारी जड़ लेखनी का क्या ? अनेक शताब्दियाँ बीत गईं, भारत में अनेकानेक साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ। भारत की वह सुन्दर कला, तथा उस महान् समाधि के वे अज्ञात निर्माणकर्त्ता भी समय के अनन्त गर्भ में न जाने कहाँ विलीन हो गए ; परन्तु आज भी वह मक़बरा खड़ा हुआ अपने सौन्दर्य से संसार को लुभा रहा है। समय तो उसके पास फटकने भी नहीं पाता कि उसकी नूतनता को हर सके, और मनुष्य . . . .बेचारा मर्त्य, वह तो उस मकबरे के तले बैठा सिर धुनता रहा है। यह मक़बरा शाहजहाँ की उस महान् साधना का, अपनी प्रेमिका के प्रति उस अनन्य तथा अगाध प्रेम का फल है। वह कितना सुन्दर है ? वह कितना करुणोत्पादक है ? आँखें ही उसकी सुन्दरता को देख सकती हैं, हृदय ही उसकी अनुपम सुकोमल करुणा का अनुभव कर सकता है। संसार उसकी सुन्दरता को देख कर स्तब्ध है, सुखी मानव जीवन के इस करुणाजनक अन्त को देख कर क्षुब्ध है। शाहजहाँ ने अपनी मृता प्रियतमा की समाधि पर अपने प्रेम की

अंजलि अर्पण की, तथा भारत ने अपने महान् शिल्पकारों और चतुर कारीगरों के हाथों शुद्ध प्रेम की उस अनुपम और अद्वितीय समाधि को निर्माण करवा कर पवित्र प्रेम की वेदी पर जो अपूर्व श्रद्धाञ्जलि अर्पित की उसका सानी इस भूतल पर खोजे नहीं मिलता।

*　　*　　*　　*　　*

बरसों में परिश्रम के बाद अन्त में मुमताज़ का वह मक़बरा पूर्ण हुआ। शाहजहाँ की वर्षों की साध पूरी हुई। एक महान् यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। इस मक़बरे के पूरे होने पर जब शाहजहाँ बड़े समारोह के साथ उसे देखने गया होगा, आगरे के लिए वह दिन कितना गौरवपूर्ण हुआ होगा। उस दिन का—भारत की ही नहीं संसार की शिल्पकला के इतिहास के उस महान् दिवस का—वर्णन इतिहास-कारों ने कहीं भी नहीं किया है। कितने सहस्र नर-नारी आबाल-वृद्ध उस दिन उस अपूर्व मक़बरे के—संसार की उस महान् अनुपम कृति के—दर्शनार्थ एकत्रित हुए होंगे? उस दिन मकबरे को देख कर भिन्न भिन्न दर्शकों के हृदयों में कितने विभिन्न भाव उत्पन्न हुए होंगे? किसी को इस महान् कृति की पूर्ति पर हर्ष हुआ होगा, किसी ने यह देख कर गौरव का अनुभव किया होगा कि उनके देश में एक ऐसी वस्तु का निर्माण हुआ है जिसकी तुलना करने के लिए संसार में कदाचित् ही दूसरी कोई वस्तु मिले; कई एक उस मकबरे की छवि को देख कर मुग्ध हो गए होंगे; न जाने कितने चित्रकार उस सुन्दर कृति को अंकित करने के लिए चित्रपट, रंग की प्यालियाँ और तूलिकाएँ लिये दौड़ पड़े होंगे; न जाने कितने कवियों के मस्तिष्क में कैसी कैसी अनोखी सूझें पैदा हुई होंगी।

परन्तु सब दर्शकों में से एक दर्शक ऐसा भी था जिसके हृदय में भिन्न भिन्न विपरीत भावों का घोर युद्ध भी हुआ था। दो आँखें ऐसी भी थीं, जो मक़बरे की उस बाह्य सुन्दरता को चीरती हुई एकटक उस क़ब्र पर ठहरती थीं। वह दर्शक था शाहजहाँ, वे आँखें थीं मुमताज के प्रियतम की आँखें। जिस समय शाहजहाँ ने ताज के उस अद्वितीय दरवाज़े पर खड़े होकर उस समाधि को देखा होगा उस समय उसके हृदय की क्या दशा हुई होगी, यह वर्णन करना अतीव कठिन है उसके हृदय में शान्ति हुई होगी कि वह अपनी प्रियतमा के प्रति किए गए अपने प्रण को पूर्ण कर सका। उसको गौरव का अनुभव हो रहा होगा कि उसकी प्रियतमा

की क़ब्र––अपनी जीवनसंगिनी की यादगार––ऐसी बनी कि उसका सानी शायद ही मिले। किन्तु उस जीवित मुमताज़ के स्थान पर, अपनी जीवन-संगिनी की हड्डियों पर यह क़ब्र––वह क़ब्र कैसी ही सुन्दर क्यों न हो—पाकर शाहजहाँ के हृदय में दहकती हुई चिर वियोग की अग्नि क्या शान्ति हुई होगी? क्या श्वेत सर्द पत्थर का वह सुन्दर अनुपम मक़बरा मुमताज़ की मृत्यु के कारण हुई कमी को पूर्ण कर सकता था? मक़बरे को देख कर शाहजहाँ की आँखों के सम्मुख उसका सारा जीवन, जब मुमताज़ के साथ वह सुखपूर्वक रहता था, सिनेमा की फ़िल्म के समान दिखाई दिया होगा। प्रियतमा मुमताज़ की स्मृति पर पुनः आँसू ढलके होंगे, पुनः सुप्त स्मृतियाँ जग उठी होंगी और चोट खाए हुए उस हृदय के वे पुराने घाव फिर हरे हो गए होंगे।

पाठको! जब आज भी कई एक दर्शक उस पवित्र समाधि को देख कर दो आँसू बहाए बिना नहीं रह सकते, तब आप ही स्वयं विचार कर सकते हैं कि शाहजहाँ की क्या दशा हुई होगी। अपने जीवन में बहुत कुछ सुख प्राप्त हो चुका था, और रहे-सहे सुख की प्राप्ति होने को थी, उस सुखपूर्ण जीवन का मध्याह्न होने ही वाला था कि उस जीवन-सूर्य को ग्रहण लग गया, और वह ऐसा लगा कि वह जीवन-सूर्य अस्त होने तक ग्रसित ही रहा। ताजमहल उस ग्रसित सूर्य से निकली हुई अद्भुत सुन्दरतापूर्ण तेजोमयी रश्मियों का एक घनीभूत सुन्दर पुंज है, उस ग्रसित सूर्य की एक अनोखी स्मृति है।

* * * * * *

शताब्दियाँ बीत गईं। शाहजहाँ कई बार उस ताजमहल को देख कर रोया होगा। मरते समय भी उस सुम्मन बुर्ज में शय्या पर पड़ा वह ताजमहल को देख रहा था। और आज भी न जाने कितने मनुष्य उस अद्वितीय समाधि के उद्यान में बैठे घंटों उसे निहारा करते हैं, और प्रेमपूर्ण जीवन के नष्ट होने की स्मृति पर, अचिरस्थायी मानव जीवन की उस करुण कथा पर रोते हैं। न जाने कितने यात्री दूर दूर देशों से बड़े भयंकर समुद्र पार कर उस समाधि को देखने के लिए खिंचे चले आते हैं। कितनी उमंगों से वे आते हैं, परंतु उसासें भरते हुए ही वे वहाँ से लौटते हैं। कितने हर्ष और उल्लास के साथ वे आते हैं, किन्तु दो बूँद आँसू बहा कर और हृदय पर दुःख का भार लिये ही वे वहाँ से निकलते हैं। प्रकृति

भी प्रति वर्ष चार मास तक इस अद्वितीय प्रेम के भंग होने की करुण स्मृति पर रोती है।

मनुष्य जीवन को, मनुष्य के दुःखपूर्ण जीवन की--जहाँ मनुष्य की कई वासनाएँ अतृप्त रह जाती हैं, जहाँ मनुष्य के प्रेम के बंधन बँधने भी नहीं पाते कि काल के कराल हाथों पड़ कर टूट जाते हैं,--मनुष्य के उस करुण जीवन की स्मृति--उसकी अतृप्त वासनाओं, अपूर्ण आकांक्षाओं तथा खिलते हुए प्रेम-पुष्प की वह समाधि—आज भी यमुना के तीर पर खड़ी है। शाहजहाँ का वह विस्तृत साम्राज्य, उसका वह अमूल्य तख्ताऊस, उसका वह अतीव महान् घराना, शाही जमाने का चकाचौंध कर देने वाला वह वैभव, आज सब कुछ विलीन हो गया—समय के कठोर झोंकों में पड़कर वे सब आज विनष्ट हो चुके हैं। ताजमहल का भी वह वैभव, उसमें जड़े हुए वे बहुमूल्य रत्न भी न जाने कहाँ चले गए, किन्तु आज भी ताजमहल अपनी सुन्दरता से समय को लुभा कर उसे भुलावा दे रहा है, मनुष्य को क्षुब्ध कर उसे रुला रहा है, और यों मानव-जीवन की इस करुण कथा को चिरस्थायी बनाए हुए है। वैभव से विहीन ताज का यह विधुर स्वरूप उसे अधिक सोहता है।

आज भी उन सफ़ेद पत्थरों से आवाज आती है—"मैं भूला नहीं हूँ"। आज भी उन पत्थरों में न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूँद प्रति वर्ष उस सुन्दर सम्राज्ञी की क़ब्र पर टपक पड़ती है; वे कठोर निर्जीव पत्थर भी प्रति वर्ष उस सम्राज्ञी की मृत्यु को याद कर, मनुष्य की करुण कथा के इस दुःखान्त को देख कर, पिघल जाते हैं और उन पत्थरों में से अनजाने एक आँसू ढलक पड़ता है। आज भी यमुना नदी की धारा समाधि को चूमती हुई भग्न मानव-जीवन की वह करुण कथा अपने प्रेमी सागर को सुनाने के लिए दौड़ पड़ती है। आज भी उस भग्न-हृदय की व्यथा को याद कर कभी कभी यमुना नदी का हृदय-प्रदेश उमड़ पड़ता है और उसके वक्षःस्थल पर भी आँसुओं की बाढ़ आती है।

उन श्वेत पत्थरों में से आवाज आती है—"आज भी मुझे उसकी स्मृति है"। आज भी उस खिलते हुए प्रेम-पुष्प का सौरभ—उस प्रेम-पुष्प का, जो अकाल में ही डंठल से टूट पड़ा—उन पत्थरों में रम रहा है। वह स्खलित पुष्प सूख गया, उसका भौतिक स्वरूप इस लोक में रह गया, परन्तु उस सुन्दर पुष्प की आत्मा विलीन

हो गई, अनन्त में अन्तर्हित हो गई। अपने अनन्त के पथ पर अग्रसर होती हुई वह आत्मा उस स्खलित पुष्प को छोड़ कर चली गई ; पत्थर की उस सुन्दर किन्तु त्यक्त समाधि में केवल उसकी स्मृति विद्यमान है। यों शाहजहाँ ने निराकार मृत्यु को अक्षय सौन्दर्यपूर्ण स्वरूप प्रदान किया। मनुष्य के अचिरस्थायी प्रेम को, प्रेमाग्नि की धधकती हुई ज्वाला को, स्नेह दीपक की झिलमिलाती हुई उस उज्ज्वल लौ को, चिरस्थायी बनाया।

—डॉक्टर रघुवीर सिंह

---

## घीसा

वर्तमान की कौन-सी अज्ञात प्रेरणा हमारे अतीत की किसी भूली हुई कथा को सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ दोहरा जाती है यह जान लेना सहज होता तो मैं भी आज गांव के उस मलिन सहमे नन्हे-से विद्यार्थी की सहसा याद आ जाने का कारण बता सकती जो एक छोटी लहर के समान ही मेरे जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छूकर अनन्त जलराशि में विलीन हो गया है।

गंगा पार झूसी के खंडहर और उसके आस-पास के गांवों के प्रति मेरा जैसा अकारण आकर्षण रहा है उसे देख कर ही सम्भवतः लोग जन्म-जन्मान्तर के संबन्ध का व्यंग करने लगे हैं। है भी तो आश्चर्य की बात! जिस अवकाश के समय को लोग इष्ट-मित्रों से मिलने, उत्सवों में सम्मिलित होने तथा अन्य आमोद-प्रमोद के लिए सुरक्षित रखते हैं उसी को मैं इस खंडहर और उसके क्षत-विक्षत चरणों पर पछाड़ें खाती हुई भागीरथी के तट पर काट ही नहीं, सुख से काट देती हूँ।

दूर पास बसे हुए, गुड़ियों के बड़े बड़े घरौंदों के समान लगने वाले कुछ लिपे-पुते, कुछ जीर्ण-शीर्ण घरों से स्त्रियों का झुण्ड पीतल-तांबे के चमचमाते मिट्टी के नये लाल और पुराने बदरंग घड़े लेकर गंगाजल भरने आता है उसे भी मैं पहचान

गई हैं। उनमें कोई बूटेदार लाल, कोई निरी काली, कोई कुछ सफेद और कोई मैल और सूत में अद्वैत स्थापित करनेवाली, कोई कुछ नई और कोई छेदों से चलनी बनी हुई धोती पहने रहती है। किसी की मोम लगी पाटियों के बीच में एक अंगुल चौड़ी सिंदूर-रेखा अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में चमकती रहती है और किसी के कड़ुवे तेल से भी अपरिचित रूखी जटा बनी हुई छोटी छोटी लटें मुख को घेर कर उसकी उदासी को और अधिक केन्द्रित कर देती हैं। किसी की सांवली गोल कलाई पर शहर की कच्ची नगदार चूड़ियों के नग रह रह कर हीरे-से चमक जाते हैं। और किसी के दुर्बल काले पहुँचे पर लाख की पीली मैली चूड़ियाँ काले पत्थर पर मटमैले चन्दन की मोटी लकीरें जान पड़ती हैं। कोई अपने गिलट के कड़े-युक्त हाथ घड़े की ओट में छिपाने का प्रयत्न-सा करती रहती है और कोई चांदी के पछेली-कंगना की झनकार के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाख की पैसे वाली तरकी धोती से कभी-कभी झांक भर लेती है और किसी की ढारें लम्बी जंजीर से गला और गाल एक करती रहती हैं। किसी के गुदना गुदे गेहुँए पैरों में चांदी के कड़े सुडौलता की परिधि-सी लगते हैं और किसी की फैली उँगलियों और सफेद एड़ियों के साथ मिली हुई स्याही रांगे और कांसे के कड़ों को लोहे की साफ की हुई बेड़ियाँ बना देती है।

वे सब पहले हाथ-मुँह धोती हैं फिर पानी में कुछ घुस कर घड़ा भर लेती हैं—तब घड़ा किनारे रख सिर पर इँडुरी ठीक करती हुई मेरी ओर देखकर कभी मलिन, कभी उजली, कभी दुःख की व्यथाभरी, कभी सुख की कथा-भरी मुस्कान से मुस्करा देती हैं। अपने और मेरे बीच का अन्तर उन्हें ज्ञात है तभी कदाचित् वे इस मुस्कान के सेतु से उसका वार-पार जोड़ना नहीं भूलतीं।

ग्वालों के बालक अपनी चरती हुई गाय-भैंसों में से किसी को उस ओर बहकते देखकर ही लकुटी लेकर दौड़ पड़ते, गरेड़ियों के बच्चे अपने झुण्ड की एक भी बकरी या भेड़ को उस ओर बढ़ते देखकर कान पकड़ कर खींच ले जाते हैं और व्यर्थ दिन भर गिल्ली-डंडा खेलनेवाले निठल्ले लड़के भी बीच-बीच में नजर बचा कर मेरा रुख देखना नहीं भूलते।

उस पार शहर में दूध बेचने जाते या लौटते हुए ग्वाले, किले में काम करने जाते या घर आते हुए मज़दूर, नाव बांधते या खोलते हुए मल्लाह, कभी-कभी

'चुनरी त रँगाउब लाल मजीठी हो' गाते-गाते मुझ पर दृष्टि पड़ते ही अकचका कर चुप हो जाते हैं। कुछ विशेष सभ्य होने का गर्व करनेवालों से मुझे एक सलज्ज नमस्कार भी प्राप्त हो जाता है।

कह नहीं सकती कब और कैसे मुझे उन बालकों को कुछ सिखाने का ध्यान आया। पर जब बिना कार्यकारिणी के निर्वाचन के, बिना पदाधिकारियों के चुनाव के, बिना भवन के, बिना चंदे की अपील के और सारांश यह कि बिना किसी चिर-परिचित समारोह के, मेरे विद्यार्थी पीपल के पेड़ की घनी छाया में मेरे चारों ओर एकत्र हो गये तब मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के उपयुक्त गम्भीरता का भार वहन कर सकी।

और वे जिज्ञासु कैसे थे सो कैसे बताऊँ! कुछ कानों में बालियाँ और हाथों में कड़े पहने, धुले कुरते और ऊँची मैली धोती में नगर और ग्राम का सम्मिश्रण जान पड़ते थे, कुछ अपने बड़े भाई का पांव तक लम्बा कुरता पहने, खेत में डराने के लिए खड़े किये हुए नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे, कुछ उभरी पसलियों, बड़े पेट और टेढ़ी दुर्बल टांगों के कारण अनुमान से ही मनुष्य-संतान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल रूखे और मलिन मुखों की करुण सौम्यता और निष्प्रभ पीली आंखों में संसार भर की उपेक्षा बटोरे बैठे थे। पर घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति में अकेला ही आता है।

वह गोधूलि मुझे अब तक नहीं भूली। सन्ध्या के लाल सुनहली आभा वाले उड़ते हुए दुकूल पर रात्रि ने मानो छिप कर अंजन की मूठ चला दी थी। मेरा नाव वाला कुछ चिन्तित-सा लहरों की ओर देख रहा था; बूढ़ी भक्तिन मेरी किताबें, कागज-कलम आदि सँभाल कर नाव पर रख कर, बढ़ते अन्धकार पर खिजला कर बुदबुदा रही थी या मुझे कुछ सनकी बनाने वाले विधाता पर, यह समझना कठिन था। बेचारी मेरे साथ रहते-रहते दस लम्बे वर्ष काट आयी है, नौकरानी से अपने आपको एक प्रकार की अभिभाविका मानने लगी है, परन्तु मेरी सनक का दुष्परिणाम सहने के अतिरिक्त उसे क्या मिला है? सहसा ममता से मेरा मन भर आया, परन्तु नाव की ओर बढ़ते हुए मेरे पैर, फैलते हुए अन्धकार में से एक स्त्री-मूर्ति को अपनी ओर आता देख ठिठक रहे। सांवले, कुछ लम्बे-से मुखड़े में पतले स्याह ओठ कुछ अधिक स्पष्ट हो रहे थे। आंखें छोटी, पर व्यथा

से आर्द्र थीं। मलिन बिना किनारी की गाढ़े की धोती ने उसके सलूकारहित अंगों को भली भांति ढंक लिया था, परन्तु तब भी शरीर की सुडौलता का आभास मिल रहा था। कन्धे पर हाथ रख कर वह जिस दुर्बल अर्धनग्न बालक को अपने पैरों से चिपकाये हुए थी उसे मैंने सन्ध्या के झुटपुटे में ठीक से नहीं देखा।

स्त्री ने रुक-रुक कर कुछ शब्दों और कुछ संकेत में जो कहा उससे मैं केवल यह समझ सकी कि उसके पति नहीं हैं, दूसरों के घर लीपने-पोतने का काम करने वह चली जाती है और उसका यह अकेला लड़का ऐसे ही घूमता रहता है। मैं इसे भी और बच्चों के साथ बैठने दिया करूँ तो यह कुछ तो सीख सके।

दूसरे इतवार को मैंने उसे सबसे पीछे अकेले एक ओर दुबक कर बैठे हुए देखा। पक्का रंग पर गठन में विशेष सुडौल मलिन मुख जिसमें दो पीली पर सचेत आंखें जड़ी-सी जान पड़ती थीं। कस कर बन्द किए हुए पतले होठों की दृढ़ता और सिर पर खड़े हुए छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की संकोच-भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थी। उभरी हड्डियों वाली गर्दन को सँभाले हुए झुके कन्धों से, रक्तहीन मटमैली हथेलियों और टेढ़े-मेढ़े कटे हुए नाखूनों युक्त हाथों वाली पतली बांहें ऐसी झूलती थीं जैसे ड्रामा में विष्णु बनने वाले की दो नकली भुजाएं। निरन्तर दौड़ते रहने के कारण उस लचीले शरीर में दुबले पैर ही विशेष पुष्ट जान पड़ते थे।—बस ऐसा ही था वह घीसा। न नाम में कवित्व की गुञ्जाइश न शरीर में।

पर उसकी सचेत आंखों में न जाने कौन-सी जिज्ञासा भरी थी। वे निरन्तर घड़ी की तरह खुली मेरे मुख पर टिकी ही रहती थीं। मानो मेरी सारी विद्या-बुद्धि को सीख लेना ही उनका ध्येय था।

लड़के उससे कुछ खिचे-खिचे से रहते थे। इसलिए नहीं कि वह कोरी था वरन् इसलिए कि किसी की मां, किसी की नानी, किसी की बुआ आदि ने घीसा से दूर रहने की नितान्त आवश्यकता उन्हें कान पकड़-पकड़ कर समझा दी थी।—यह भी उन्हीं ने बताया और बताया घीसा के सबसे अधिक कुरूप नाम का रहस्य। बाप तो जन्म से पहले ही नहीं रहा। घर में कोई देखने-भालने वाला न होने के कारण मां उसे बंदरिया के बच्चे के समान चिपकाये फिरती थी। उसे एक ओर लिटा कर जब वह मजदूरी के काम में लग जाती थी तब पेट के बल घसिट-घसिट

कर बालक संसार के प्रथम अनुभव के साथ-साथ इस नाम की योग्यता भी प्राप्त करता जाता था।

फिर धीरे-धीरे अन्य स्त्रियां भी मुझे आते-जाते रोक कर अनेक प्रकार की भावभंगिमा के साथ एक विचित्र सांकेतिक भाषा में घीसा की जन्म-जात अयोग्यता का परिचय देने लगीं। क्रमशः मैंने उसके नाम के अतिरिक्त और कुछ भी जाना।

उसका बाप था तो कोरी, पर बड़ा ही अभिमानी और भला आदमी बनने का इच्छुक। डलिया आदि बुनने का काम छोड़ कर वह थोड़ी बढ़ई-गीरी सीख आया और केवल इतना ही नहीं, एक दिन चुपचाप दूसरे गांव से युवती वधू लाकर उसने अपने गांव की सब सजातीय सुन्दरी बालिकाओं को उपेक्षित और उनके माता-पिता को निराश कर डाला। मनुष्य इतना अन्याय सह सकता है, परन्तु ऐसे अवसर पर भगवान की असहिष्णुता प्रसिद्ध ही है। इसी से जब गांव के चौखट किवाड़ बना कर और ठाकुरों के घरों में सफेदी करके उसने कुछ टाट-बाट से रहना आरम्भ किया तब अचानक हैज़े के बहाने वह वहां बुला लिया गया जहां न जाने का बहाना न उसकी बुद्धि सोच सकी न अभिमान। पर स्त्री भी कम गर्वीली न निकली। गांव के अनेक विधुर और अविवाहित कोरियों ने केवल उदारता-वश ही उसकी-नैया पार लगाने का उत्तरदायित्व लेना चाहा, परन्तु उसने केवल कोरा उत्तर ही नहीं दिया प्रत्युत् उसे नमक-मिर्च लगा कर तीता भी कर दिया। कहा 'हम सिंघ के मेहरारू होइके का सियारन के जाब।' फिर बिना स्वरताल के आंसू गिराकर बाल खोल कर, चूड़ियां फोड़ कर और बिना किनारे की धोती पहनकर जब उसने बड़े घर की विधवा का स्वांग भरना आरम्भ किया तब तो सारा समाज क्षोभ के समुद्र में डूबने-उतराने लगा। उस पर घीसा बाप के मरने के बाद हुआ है। हुआ तो वास्तव में छः महीने बाद, परन्तु उस समय के सम्बन्ध में क्या कहा जाय जिसका कभी एक क्षण वर्ष-सा बीतता है और कभी एक वर्ष क्षण हो जाता है। इसी से यदि वह छः मास का समय रबर की तरह खिंचकर एक साल की अवधि तक पहुँच गया तो इसमें गांववालों का क्या दोष!

यह कथा अनेक क्षेपकोमय विस्तार के साथ सुनायी तो गयी थी मेरा मन फेरने के लिए और मन फिरा भी, परन्तु किसी सनातन नियम से कथावाचकों की

ओर न फिर कर कथा के नायकों की ओर फिर गया और इस प्रकार घीसा मेरे और अधिक निकट आ गया। वह अपना जीवन-सम्बन्धी अपवाद कदाचित पूरा नहीं समझ पाया था, परन्तु अधूरे का भी प्रभाव उस पर कम न था क्योंकि वह सब को अपनी छाया से इस प्रकार बचाता रहता था मानो उसे कोई छूत की बीमारी हो।

पढ़ने, उसे सबसे पहले समझने, उसे व्यवहार के समय स्मरण रखने, पुस्तक में एक भी धब्बा न लगाने, स्लेट को चमचमाती रखने और अपने छोटे-से-छोटे काम का उत्तरदायित्व बड़ी गम्भीरता से निभाने में उसके समान कोई चतुर न था। इसी से कभी-कभी मन चाहता था कि उसकी मां से उसे मांग ले जाऊं और अपने पास रखकर उसके विकास की उचित व्यवस्था कर दूं—परन्तु उस उपेक्षिता पर मानिनी विधवा का वही एक सहारा था। वह अपने पति का स्थान छोड़ने पर प्रस्तुत न होगी यह भी मेरा मन जानता था और उस बालक के बिना उसका जीवन कितना दुर्वह हो सकता है यह भी मुझसे छिपा न था। फिर नौ साल के कर्तव्यपरायण घीसा की गुरु-भक्ति देख कर उसकी मातृ-भक्ति के सम्बन्ध में कुछ सन्देह करने का स्थान ही नहीं रह जाता था और इस तरह घीसा वहीं और उन्हीं कठोर परिस्थितियों में रहा जहां क्रूरतम नियति ने केवल अपने मनोविनोद के लिए ही उसे रख दिया था।

शनिश्चर के दिन ही वह अपने छोटे दुर्बल हाथों से पीपल की छाया को गोबर-मिट्टी से पीला चिकनापन दे आता था। फिर इतवार को मां के मज़दूरी पर जाते ही एक मैले फटे कपड़े में बँधी मोटी रोटी और कुछ नमक या थोड़ा चबेना और एक डली गुड़ बगल में दबाकर, पीपल की छाया को एक बार फिर झाड़ने बुहारने के पश्चात् वह गंगा के तट पर आ बैठता और अपनी पीली सतेज आंखों पर क्षीण सांवले हाथ की छाया कर दूर-दूर तक दृष्टि को दौड़ाता रहता। जैसे ही उसे मेरी नीली सफेद नाव की झलक दिखाई पड़ती वैसे ही वह अपनी पतली टांगों पर तीर के समान उड़ता और बिना नाम लिए हुए ही साथियों को सुनाने के लिए गुरु साहब कहता हुआ फिर पेड़ के नीचे पहुँच जाता जहां न जाने कितनी बार दुहराये-तिहराये हुए कार्य-क्रमकी एक अन्तिम आवृत्ति आवश्यक हो उठती। पेड़ की नीची डाल पर रखी हुई मेरी शीतलपाटी उतार कर बार-बार झाड़-पोंछ कर बिछायी जाती, कभी काम न आनेवाली सूखी स्याही से काली कच्चे कांच

की दावात, टूटे निब और उखड़े हुए रंगवाले भूरे हरे कलम के साथ पेड़ के कोटर से निकाल कर यथास्थान रख दी जाती और तब इस चित्र पाठशाला का विचित्र मंत्री और निराला विद्यार्थी कुछ आगे बढ़ कर मेरे सप्रणाम स्वागत के लिए प्रस्तुत हो जाता।

महीने में चार दिन ही मैं वहां पहुँच सकती थी और कभी-कभी काम की अधिकता से एक आध छुट्टी का दिन और भी निकल जाता था, पर उस थोड़े से समय और इने-गिने दिनों में भी मुझे उस बालक के हृदय का जैसा परिचय मिला वह चित्र के एल्बम के समान निरन्तर नवीन-सा लगता है।

मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता जब मैंने बिना कपड़ों का प्रबन्ध किये हुए ही उन बेचारों को सफ़ाई का महत्त्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की। दूसरे इतवार को सब जैसे के तैसे ही सामने थे——केवल कुछ गंगा जी में मुंह इस तरह धो आये थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गया था, कुछ ने हाथ-पांव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ वे अलग जोड़े हुए-से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिए कीच से मैले फटे कुरते घर ही छोड़ कर ऐसे अस्थिपंजरमय रूप में आ उपस्थित हुए थे जिसमें उनके प्राण, 'रहने का आश्चर्य है गये अचम्भा कौन' की घोषणा करते जान पड़ते थे। पर घीसा ग़ायब था। पूछने पर लड़के काना-फूंसी करने को या एक साथ सभी उसकी अनुपस्थिति का कारण सुनाने को आतुर होने लगे। एक-एक शब्द जोड़-तोड़ कर समझना पड़ा कि घीसा मां से कपड़ा धोने के साबुन के लिए तभी से कह रहा था——मां को मजदूरी के पैसे मिले नहीं और दूकानदार ने नाज लेकर साबुन दिया नहीं। कल रात को मां को पैसे मिले और आज सबेरे वह सब काम छोड़कर पहले साबुन लेने गयी। अभी लौटी है, अतः घीसा कपड़े धो रहा है क्योंकि गुरु साहब ने कहा था कि नहा-धोकर साफ़ कपड़े पहन कर आना। और अभागे के पास कपड़े ही क्या थे। किसी दयावती का दिया हुआ एक पुराना कुरता जिसकी एक आस्तीन आधी थी और एक अंगौछा-जैसा फटा टुकड़ा। जब घीसा नहा कर गीला अँगौछा लपेटे और आधा भीगा कुरता पहने अपराधी के समान मेरे सामने आ खड़ा हुआ तब आंखें ही नहीं मेरा रोम-रोम गीला

हो गया। उस समय समझ में आया कि द्रोणाचार्य ने अपने भील शिष्य से अँगूठा कैसे कटवा लिया था।

एक दिन न जाने क्या सोचकर मैं उन विद्यार्थियों के लिए ५–६ सेर जलेबियां ले गयी पर कुछ तोलनेवाले की सफाई से कुछ तुलवाने वाले की समझदारी से और कुछ वहां की छीना-झपटी के कारण प्रत्येक को पाँच से अधिक न मिल सकीं। एक कहता था मुझे एक कम मिली, दूसरे ने बताया मेरी अमुक ने छीन ली, तीसरे को घर में सोते हुए छोटे भाई के लिए चाहिए, चौथे को किसी और की याद आ गयी। पर इस कोलाहल में अपने हिस्से की जलेबियां लेकर घीसा कहां खिसक गया यह कोई न जान सका। एक नटखट अपने साथी से कह रहा था 'सार एक ठो पिलवा पाले है ओही का देय बरे गा होई' पर मेरी दृष्टि से संकुचित होकर चुप रह गया। और तब तक घीसा लौटा ही। उसका सब हिसाब ठीक था—जलखई वाले छन्ने में दो जलेबियां लपेट कर वह माई के लिये छप्पर में खोंस आया है, एक उसने अपने पाले हुए, बिना मां के कुत्ते के पिल्ले को खिला दी और दो स्वयं खा लीं। 'और चाहिए' पूछने पर उसकी संकोचभरी आंखें झुक गयीं—ओठ कुछ हिले। पता चला कि पिल्ले को उससे कम मिली है। दें तो गुरु साहब पिल्ले को ही एक और दे दें।

और होली के पहले की एक घटना तो मेरी स्मृति में ऐसे गहरे रंगों से अंकित है जिसका धुल सकना सहज नहीं। उन दिनों हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य धीरे-धीरे बढ़ रहा था और किसी दिन उसके चरम सीमा तक पहुँच जाने की पूर्ण संभावना थी। घीसा दो सप्ताह से ज्वर में पड़ा था—दवा मैं भिजवा देती थी परन्तु देख-भाल का कोई ठीक प्रबन्ध न हो पाता था। दो-चार दिन उसकी मां स्वयं बैठी रही फिर एक अंधी बुढ़िया को बैठा कर काम पर जाने लगी।

इतवार की सांझ को मैं बच्चों को बिदा दे घीसा को देखने चली; परन्तु पीपल के पचास-पग दूर पहुँचते-न-पहुँचते उसी को डगमगाते पैरों से गिरते-पड़ते अपनी ओर आते देख मेरा मन उद्विग्न हो उठा। वह तो इधर पन्द्रह दिन से उठा ही नहीं था, अतः मुझे उसके सन्निपातग्रस्त होने का ही सन्देह हुआ। उसके सूखे शरीर में तरल विद्युत-सी दौड़ रही थी, आंखें और भी सतेज और मुख ऐसे था जैसे हल्की आंच में धीरे-धीरे लाल होने वाला लोहे का टुकड़ा।

पर उसके वात-ग्रस्त होने से भी अधिक चिन्ता-जनक उसकी समझदारी की कहानी निकली। वह प्यास से जाग गया था पर पानी पास मिला नहीं और अंधी मनियां की आजी से मांगना ठीक न समझकर वह चुपचाप कष्ट सहने लगा। इतने में मुल्लू के कक्का ने पार से लौट कर दरवाज़े से ही अंधी को बताया कि शहर में दंगा हो रहा है और तब उसे गुरु साहब का ध्यान आया। मुल्लू के कक्का के हटते ही वह ऐसे हौले-हौले उठा कि बुढ़िया को पता ही न चला और कभी दीवार कभी पेड़ का सहारा लेता-लेता इस ओर भागा। अब वह गुरु साहब के गोड़ धर कर यहीं पड़ा रहेगा पर पार किसी तरह भी न जाने देगा।

तब मेरी समस्या और भी जटिल हो गयी। पार तो मुझे पहुँचना था ही पर साथ ही बीमार घीसा को ऐसे समझा कर जिससे उसकी स्थिति और गम्भीर न हो जाय। पर सदा के संकोची, नम्र और आज्ञाकारी घीसा का इस दृढ़ और हठी बालक में पता ही न चलता था। उसने पारसाल ऐसे ही अवसर पर हताहत दो मल्लाह देखे थे और कदाचित् इस समय उसका रोग से विकृत मस्तिष्क उन चित्रों में गहरा रंग भर कर मेरी उलझन को और उलझा रहा था। पर उसे समझाने का प्रयत्न करते-करते अचानक ही मैंने एक ऐसा तार छू दिया जिसका स्वर मेरे लिए भी नया था। यह सुनते ही कि मेरे पास रेल में बैठ कर दूर-दूर से आये हुए बहुत से विद्यार्थी हैं जो अपनी मां के पास साल भर में एक बार ही पहुँच पाते हैं और जो मेरे न जाने से अकेले घबरा जायंगे, घीसा का सारा हठ, सारा विरोध ऐसे बह गया जैसे वह कभी था ही नहीं।—और तब घीसा के समान तर्क की क्षमता किसमें थी! जो सांझ को अपनी माई के पास नहीं जा सकते उनके पास गुरु साहब को जाना ही चाहिए। घीसा रोकेगा तो उसके भगवान जी गुस्सा हो जायंगे क्योंकि वे ही तो घीसा को अकेला बेकार घूमता देखकर गुरु साहब को भेज देते हैं आदि-आदि उसके तर्कों का स्मरण कर आज भी मन भर आता है। परन्तु उस दिन मुझे आपत्ति से बचाने के लिए अपने बुखार से जलते हुए अशक्त शरीर को घसीट लाने वाले घीसा को जब उसकी टूटी खटिया पर लिटा कर मैं लौटी तब मेरे मन में कौतूहल की मात्रा ही अधिक थी।

इसके उपरान्त घीसा अच्छा हो गया और धूल और सूखी पत्तियों को बांध कर उन्मत्त के समान घूमने वाली गर्मी की हवा से उसका रोज़ संग्राम छिड़ने लगा—

झाड़ते-झाड़ते ही वह पाठशाला धूल-धूसरित होकर भूरे, पीले और कुछ हरे पत्तों की चादर में छिप कर, तथा कंकालशेष शाखाओं में उलझते, सूखे पत्तों को पुकारते वायु की संतप्त मरमर से मुखरित होकर उस भ्रान्त बालक को चिढ़ाने लगती। तब मैंने तीसरे पहर से सन्ध्या समय तक वहां रहने का निश्चय किया, परन्तु पता चला घीसा किसकिसाती आंखों को मलता और पुस्तक से बार-बार धूल झाड़ता हुआ दिन भर वहीं पेड़ के नीचे बैठा रहता है मानो वह किसी प्राचीन युग का तपोव्रती अनागरिक ब्रह्मचारी हो जिसकी तपस्या भंग करने के लिए ही लू के झोंके आते हैं।

इस प्रकार चलते-चलते समय ने जब दाईं छूने के लिए दौड़ते हुए बालक के समान झपट कर उस दिन पर उँगली धर दी जब मुझे उन लोगों को छोड़ जाना था तब तो मेरा मन बहुत ही अस्थिर हो उठा। कुछ बालक उदास थे और कुछ खेलने की छुट्टी से प्रसन्न! कुछ जानना चाहते थे कि छुट्टियों के दिन चूने की टिपकियां रख कर गिने जांय या कोयले की लकीरें खींचकर। कुछ के सामने बरसात में चूते हुए घर में आठ पृष्ठ की पुस्तक बचा रखने का प्रश्न था और कुछ कागजों पर अकारण को ही चूहों की समस्या का समाधान चाहते थे। ऐसे महत्त्वपूर्ण कोलाहल में घीसा न जाने कैसे अपना रहना अनावश्यक समझ लेता था, अतः सदा के समान आज भी मैंने उसे न खोज पाया। जब मैं कुछ चिन्तित-सी वहां से चली तब मन भारी-भारी हो रहा था, आँखों में कुहरा-सा घिर-घिर आता था। वास्तव में उन दिनों डाक्टरों को मेरे पेट में फोड़ा होने का सन्देह हो रहा था—आँपरेशन की सम्भावना थी। कब लौटूंगी या नहीं लौटूंगी यही सोचते-सोचते मैंने फिरकर चारों ओर जो आर्द्र दृष्टि डाली वह कुछ समय तक उन परिचित, स्थानों को भेंट कर वहीं उलझ रही।

पृथ्वी के उच्छ्वास के समान उठते हुए धुंधलेपन में वे कच्चे घर आकण्ठ मग्न हो गए थे—केवल फूस के मटमैले और खपरैल के कत्थई और काले छप्पर, वर्षा में बढ़ी गंगा के मिट्टी जैसे जल में पुरानी नावों के समान जान पड़ते थे। कछार के बालू में दूर तक फैले तरबूज और खरबूजे के खेत अपने सिरकी और फूसकी मुट्ठियों, टट्टियों और रखवाली के लिए बनी पर्णकुटियों के कारण जल में बसे किसी आदिम द्वीप का स्मरण दिलाते थे। उनमें एक-दो दिये जल चुके थे

तब मैंने दूर पर एक छोटा-सा काला धब्बा आगे बढ़ता देखा। वह घीसा ही होगा यह मैंने दूर से ही जान लिया। आज गुरु साहब को उसे बिदा देना है यह उसका नन्हा हृदय अपनी पूरी संवेदना-शक्ति से जान रहा था इसमें सन्देह नहीं था। परन्तु उस उपेक्षित बालक के मन में मेरे लिए कितनी सरल ममता और मेरे विछोह की कितनी गहरी व्यथा हो सकती है यह जानना मेरे लिए शेष था।

निकट आने पर देखा कि उस धूमिल गोधूलि में बादामी काग़ज पर काले चित्र के समान लगने वाला नंगे बदन घीसा एक बड़ा तरबूज दोनों हाथों में सम्हाले था जिसमें बीच के कुछ कटे भाग में से भीतर की ईषत्-लक्ष्य ललाई चारों ओर के गहरे हरेपन में कुछ खिले कुछ बन्द गुलाबी फूल जैसी जान पड़ती थी।

घीसा के पास न पैसा था न खेत--तब क्या वह इसे चुरा लाया है! मन का सन्देह बाहर आया। और तब मैंने जाना कि जीवन का खरा सोना छिपाने के लिए उस मलिन शरीर को बनाने वाला ईश्वर उस बूढ़े आदमी से भिन्न नहीं जो अपनी सोने की मोहर को कच्ची मिट्टी की दीवार में रख कर निश्चिन्त हो जाता है। घीसा गुरु साहब से झूठ बोलना भगवान जी से झूठ बोलना समझता है। वह तरबूज कई दिन पहले देख आया था। माई के लौटने में न जाने क्यों देर हो गई तब उसे अकेले ही खेत पर जाना पड़ा। वहां खेत वाले का लड़का था जिसकी उसके नये कुरते पर बहुत दिन से नजर थी। प्रायः सुना-सुना कर कहता रहता था कि जिनकी भूख जूठी पत्तल से बुझ सकती है उनके लिए परोसा लगाने वाले पागल होते हैं। उसने कहा पैसा नहीं है तो कुरता दे जाओ। और घीसा आज तरबूज न लेता तो कल उसका क्या करता। इससे कुरता दे आया--पर गुरु साहब को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि गर्मी में वह कुरता पहनता ही नहीं और जाने-आने के लिए पुराना ठीक रहेगा। तरबूज सफेद न हो इसलिए कटवाना पड़ा--मीठा है या नहीं यह देखने के लिए उँगली से कुछ निकाल भी लेना पड़ा।

गुरु साहब न लें तो घीसा रात भर रोयेगा--छुट्टी भर रोयेगा, ले जावें तो वह रोज नहा-धोकर पेड़ के नीचे पढ़ा हुआ पाठ दोहराता रहेगा और छुट्टी के बाद पूरी किताब पट्टी पर लिख कर दिखा सकेगा।

और तब अपने स्नेह में प्रगल्भ उस बालक के सिर पर हाथ रख कर मैं भावातिरेक से ही निश्चल हो रही। उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी ऐसा मुझे विश्वास नहीं, परन्तु उस दक्षिणा के सामने संसार में अब तक सारे आदान-प्रदान फीके जान पड़े।

फिर घीसा के सुख का विशेष प्रबन्ध कर मैं बाहर चली गयी और लौटते-लौटते कई महीने लग गये। इस बीच में उसका कोई समाचार न मिलना ही सम्भव था। जब फिर उस ओर जाने का मुझे अवकाश मिल सका तब घीसा को उसके भगवान जी ने सदा के लिए पढ़ने से अवकाश दे दिया था—आज वह कहानी दोहराने की मुझमें शक्ति नहीं है पर सम्भव है आज के कल, कल के कुछ दिन, दिनों के मास और मास के वर्ष बन जाने पर मैं दार्शनिक के समान धीर-भाव से उस छोटे जीवन का उपेक्षित अन्त बता सकूँगी। अभी मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है कि मैं अन्य मलिन मुखों में उसकी छाया ढूंढ़ती रहूँ।

—महादेवी वर्मा

---

## बाँसुरी

क्या कभी फिर बजेगी यह बाँसुरी? सुनी तो एक ही बार थी, पर उस की प्रतिध्वनि आज भी इस अँधेरे शून्य हृदयागार में गूँज रही है। समझ में नहीं आता, उस फूँक में क्या जादू भरा था।

शिशिर के दिन थे। लजवन्ती प्रतीची को एक झीनी लाल साड़ी पहना कर भगवान् भुवन-भास्कर क्षितिज पार कर चुके थे। सुहागिनी प्राची के ललाम ललाट पर कुमुदिनी-कान्त सौभाग्य-सिन्दूर लगा रहे थे। गो-धूलि-आच्छादित आकाश मकरन्द-मण्डित पुष्पोद्यान-सा प्रतीत होता था। चिड़ियाँ चहचहाती हुई वृक्षों के अङ्क में बसेरा लेने जा रही थीं। ठण्ड के मारे निराश्रय जीव-जन्तु आश्रय ढूँढ़ रहे थे। देखते-देखते चारों ओर सन्नाटा छा गया।

उन दिनों मेरी कुटिया, उत्तराखण्ड में एक बीहड़ पहाड़ी के सामने थी। आस-पास टीले ही टीले थे। नीचे एक चुलबुला नाला कूद-फाँद कर रहा था, जिस की विलोल लहरें प्राय: कुटिया के चबूतरे के साथ अठखेलियाँ किया करती थीं।

उस रमणीय सन्ध्या को चबूतरे पेर निरुद्देश-सा बैठा हुआ मैं सामने के ऊँचे शिखरों की ओर टक लगाए देख रहा था। स्वच्छ चाँदनी से निखरे हुए हिमाच्छादित श्वेत शिखर ऐरावत के दाँतों से होड़ लगा रहे थे। बैठा-बैठा मैं, न जाने, किस उधेड़बुन में लग गया। मेरी विचार-शक्ति प्रतिक्षण क्षीण होती जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानो मैं किसी गहरे अन्धकूप में डूबता जा रहा हूँ।

एकाएक किसी स्वर्गीय स्वर ने मेरी ध्यान-मुद्रा भङ्ग कर दी। स्वर बाँसुरी का-सा था। पीछे निश्चय भी हो गया कि कहीं से बाँसुरी की ही ध्वनि आ रही है। वह उल्लसित स्वर-लहरी उस प्रशान्त नभोमण्डल में विद्युत् की भाँति दौड़ने लगी। हृदय लहरा उठा। शिखर मुस्कराने लगे। चन्द्रमा पुलकित हो गया। परिमल-वाही पवन प्रणय-सङ्केत करने लगा। दिग्वधुएँ घूँघट हटा झाँकने लगीं। नाला भी निस्तब्ध हो गया। पत्तियाँ थिरकने लगीं। मुग्धा प्रकृति के सलज्ज मुख पर एक अनुपम माधुरी-कलिका मुकुलित हो उठी। यह सब उसी मोहिनी-ध्वनि का प्रभाव था। तो फिर उसे मानव सृष्टि-विधायनी क्यों न कहूँ।

हाँ, अवश्य ही उस बाँसुरी की तान में नवीन सृष्टि-विधान का अद्भुत उपादान था। ऐसा न होता तो उस स्वर लहरी का आलिङ्गन कर प्रस्तर-खण्ड क्यों पसीज उठते? कठोर-हृदया विभावरी के तारक नेत्रों में प्रेमाश्रु क्यों छलक आते? वनश्री का धूमिल अञ्चल अनुरागरञ्जित क्यों हो जाता? मेरा पाप-परितप्त मलिन हृदय दूध की धार से पखार कर कौन शीतल और निर्मल करता?

वंशी-ध्वनि बराबर उसी ओर से आ रही थी। कभी-कभी तो कानों के अत्यन्त ही समीप जान पड़ती थी। उस समय मेरा मन हाथ में नहीं था। रह-रह कर उछल-सा रहा था। वंशी बजाने वाला कौन है, कैसा है, कहाँ है, कैसे मिलेगा—आदि प्रश्नों में उलझ कर बेचारा अधीर हो उठा। उस रंगीले

जादूगर की तरफ बेचारा खिंचा-सा जा रहा था। चाहा कि इधर-उधर टोह लगाऊँ, पर उठ न सका। शरीर जकड़-सा गया। क्या वश! अधीर आँखें कानों को कोसती हुईं, बिना पानी की मछलियों की तरह, छटपटाने लगीं।

वंशी वाले! तुम चाहे जो हो, पर हो पूरे निर्दय! आँखों से ओट ही रहना था, तो बाँसुरी क्यों फूँकी? किस ने कहा था कि बाँसुरी बजा कर मुझे कुछ-का कुछ कर दो! मेरा पहले का जीवन क्या बुरा था? कम-से-कम यह पागलपन तो सवार न था। दिल में न कोई दर्द था, न कसक थी, न आँखों में यह जहरीला नशा। न ऊधो का देना था, न माधो का लेना।

खैर, जो हुआ सो हुआ, अब अपना दरस कब दोगे? प्यारे वह मोहिनी मुरली कब फूँकोगे, मोहन? (अन्तर्नाद)

—श्रीचतुर्सेन शास्त्री

---

## आशा

आशा! आशा! अरी भलीमानस! ज़रा ठहर तो सही, सुन तो सही, कहाँ खींचे लिये जा रही है? इतनी तेज़ी से, इतने ज़ोर से? आख़िर सुनूँ तो कि पड़ाव कितनी दूर है? मंज़िल कहाँ है? ओर छोर किधर है? कहीं कुछ भी तो नहीं दीखता! क्या अंधेर है! छोड़, मुझे छोड़। इस उच्चाकांक्षा से मैं बाज़ आया। पड़ा रहने दे, मरने दे, अब और दौड़ा नहीं जाता। ना-ना-अब दम नहीं रहा। यह देखो यह हड्डी टूट गई, पैर चूर चूर हो गये, साँस रुक गया, दम फूल गया। क्या मार ही डालेगी सत्यानाशिनी? किस सब्ज़ बाग़ का झाँसा दिया था? किस मृगतृष्णा में ला डाला मायाविनी? छोड़ छोड़, मैं तो यहीं मरा जाता हूँ—यहीं समाप्त हो रहा हूँ मैंने छोड़ा, बाजदावा देता हूँ—मेरी जान छोड़। मैं यहीं पड़ा रहूँगा। भूख और प्यास सब मंजूर है—हाय!

वह कैसी कुघड़ी थी जब मैं प्यारी शान्ति का हाथ छोड़, उससे पल्ला छुड़ा, उसे धक्का मार, अन्धे की तरह—नहीं नहीं पागल की तरह—तेरे पीछे भागा था? कैसी भंग खाली थी कैसी सुमत गँ ाई थी? कहाँ है मेरी शान्ति? कुछ भी तो पता नहीं है—जीती भी है या मर गई!

क्या करता। तेरी मोह भरी चितवन, उन्मादक मुस्कुराहट, और दिल को लोट पोट करने वाली चपलता ने मुझे मार डाला। मुझ पर, मेरे दिल पर, मेरी शान्ति पर, इन सब ने डाका डाला। शान्ति छूटी, सुख छूटा, घर बार छूटा, आराम छूटा, अब भी दौड़ बन्द नहीं? अब भी मंजिल पूरी नहीं? तैंने कहा था, वहाँ एक करोड़ स्वर्गों का निचोड़ा हुआ रस सड़कों पर छिड़का जाता है। तैंने कहा था, शान्तियों का वहाँ ढलाई का कारखाना खुला हुआ है। तैंने कहा था, सुख के सात समुद्र भरे पड़े हैं। तैंने कहा था, रूप का वहाँ अंतर खींचा रखा है। तेरे इतने प्रलोभनों में यदि मैं भटक गया तो भगवान् मेरा अपराध क्षमा करें। यहाँ तो मार्ग ही मार्ग है—मंजिल का कहीं ठिकाना ही नहीं है। क्या जाने कहीं है भी या नहीं।

प्यास के मारे कंठ चिपक गया है। जीभ तालू से सट गई है। घर म कुएँ का ठंडा जल था, उसे छोड़ अमृत के लोभ में निकला, तो प्यास पल्ले पड़ी। घर में पेट भर रोटियाँ तो थीं—जैसी भी थीं—मोहन भोग के लोभ में गधे की तरह वे छोड़ दीं, अब भूख के मारे आँखें निकल रही हैं। चटाई का बिछाना क्या बुरा था? सिंहासन कहाँ है? यहाँ चलते चलते पैर टूट गय हैं। वह बीहड़ मैदान, रेगिस्तान, नदी, नद, तालाब, झील, जंगल, वन, नगर, पहाड़, गुफ़ा, खोह, ऊबड़ खाबड़—ओफ़ बराबर तय किये आ रहा हूँ। अभी और भी तेरी उँगली उठ रही है। तेरी तेज़ी बराबर जारी है। तू नहीं थकी? पसीना भी नहीं आया? होश हवास बराबर क़ायम हैं? भीषणा सुन्दरी! तू कौन है? वही आगे को उँगली उठा रही है। 'थोड़ी दूर और है' यही तेरा मन्त्र है। बढ़ी चली जा रही है आँधी और तूफ़ान की तरह। छोड़ दे, मेरी उँगली को छोड़ दे, नहीं तो मैं उँगली काट डालूँगा। थोड़ी दूर हो या बहुत दूर हो, बस मुझसे नहीं चला जाता। घुटने छिल गये, बाल पक गये। पेट कमर में लग गया। कमर धरती पर झुक गई। अब भी दया नहीं—अब भी आराम नहीं।

रहने दे, मैं यहीं आराम करूँगा—यहीं गिरूँगा, यहीं मरूँगा—जा—छोड़, छोड़।

लौट ही जाता। शायद शान्ति मिल जाती। पर! पर! पर! लौटने का ठिकाना किधर है? और आ किधर से रहा हूँ—कुछ भी तो नहीं मालूम। दौड़ा दौड़ा आ रहा हूँ—इधर देखा न उधर। आज से आ रहा हूँ? जन्म समाप्त हो चला। सारा समय मार्ग में ही बीत गया—फिर भी कहती है—'थोड़ा और।' लौटने दे। पर लौटने का समय कहाँ है? घर बहुत दूर है। उसकी राह जवानी से बुढ़ापे तक की है। अब बूढ़ा तो हो गया—जवानी अब कहाँ से आवेगी? अब लौटना व्यर्थ है। असम्भव है? तब? तब क्या यहीं मरना होगा? यहीं? मार्ग में? काँटे और पत्थरों से भरी धरती में? हिंसक जन्तुओं से भरे जंगल में? हे भगवान्, जवानी से बुढ़ापे तक, दौड़ने—मरने—सब कुछ त्यागने का, यही—यही—यही फल मिला? हाय!

फिर वही, "थोड़ी दूर और"। यह थोड़ी दूर कितनी है? सच तो बता, ईश्वर की क़सम। अब तो वापस लौटने का समय ही नहीं है। प्रकाश का एक कण भी तो नहीं दीखता। तेरी आँखें मात्र चमकती हैं। इन आँखों के प्रकाश में और कब तक चलूँ? ना—ना—अब दम नहीं है। मैं हाथ जोड़ूँ, हा हा खाऊँ, मुझे छोड़ दे! मरने को छोड़ दे। मुझे न सुख की हौंस है न जीने की।

क्या कहा? मंजिल आगई? कहाँ? किधर? देखूँ? इतना क्यों हँसती है। मुझे हँसना अच्छा नहीं लगता। ठहर। क्या सचमुच मंजिल आगई? यह जो सामने चमक रहा है—वही क्या हमारा गन्तव्य स्थान है? पर वह तो अभी दूर है। वहाँ तक पहुँचने की ताव कहाँ है? और पहुँच कर वह भोग भोगने की शक्ति भी कहाँ रह गई है? रहने दे। अब एक पग भी न चलूँगा। चला भी न जायगा। इसका कोई उपयोग नहीं। पहुँचना ही कठिन है और पहुँच कर उसका उपभोग करना तो और भी कठिन—असम्भव है। भोग का समय, आयु, शक्ति, सब इस मार्ग में समाप्त हो गई। अब क्या उस भोग को लालच की दृष्टि से—तरसते मन से—देखने को वहाँ जाऊँ? यह तो और भी कष्ट होगा। रहने दे, अब वहाँ जाने का कुछ आकर्षण नहीं रहा। तुम अक्षययौवना हो, किसी अक्षययौवन को पकड़ो। और मैं तो यहीं इसी मार्ग

में मरा ! हे भगवान् ! आज शान्ति मिलती ! आशा ! आशा तुम जाओ—जाओ ! हाय ! मैं मरा ! एँ ! एँ ! क्या कहा ? वहाँ सब थकन व्याधि मिट जायगी ? शान्ति भी मिल जायगी ? नहीं ? ऐसा ? अच्छा, भाग्यवती ! चल। अच्छा चल। पर कितनी दूर है ? है तो सामने ही न ? अच्छा—और चार पग ही सही। चल !

—(गद्यविहार)

---

## साहित्य-देवता

### गिरिधर गीत है ; मीरा मुरली है

कवि के घर निर्धनता से अकाल नहीं पड़ता, वह तो पड़ता है, नीरसता का मौसम आ जाने पर। उस समय उसके विचार और भाव, वाणी के वाहन पर बैठकर विजय-यात्रा करते हिचकने लगते हैं। ज्ञान की परिमितता में भाषा का उपयोग, हृदय-कथन होता है, और ज्ञान का बोझ लदने पर, भाषा से हृदय छुपाने का चकला खुलवाया जाता है। किन्तु कवि के पास, भाषा, ज्ञान में और अज्ञान में, सदैव, हृदय के ईमानदार प्रगटीकरण का साधन होती है। कविता को कुछ लोग, विलास या विनोद मानते हैं। जो लोग अपने प्राण-दान को भी विलास मानते हैं, उन मनस्वियों को तो कविता को भी विलास और विनोद मानने का अधिकार है ; किन्तु यथार्थ कविता विलास नहीं, वह तो एक निर्माण है, महान् निर्माण है। हिमालय की तरह स्थायी, गंगा की तरह उपयोगी, सूर्यकिरणों की तरह आवश्यक, और वायु की तरह अनिवार्य। लोग कहते हैं, विज्ञान की बाढ़ में, कविता का विनाश-काल आ रहा है। जो लोग, तुक मिलाने के सूख कर उखड़ते हुए आम की डालियों को कविता कहते और मानते हैं, उनकी कविता तो

कितनी ही बार मर चुकी ; आज भी वह कविता मरने ही के लिए है। किन्तु जो लोग कविता को समय के पंख मानते हैं, उन्हें कविता के मरण की बात पर विश्वास कैसे हो? जब तक हृदय है, और उसमें सुकोमल मनोभावों का आगमन है; जब तक मनुष्य के हृदय पर, मनोभावों का असर होता रहता है, तब तक कविता अमर है। हाँ, छन्द न रहें। हम छन्दों के मानी ही ग़लत समझें, तो इसमें क़ुसूर किसका? प्राणों की कविता का छन्द शरीर है; मनोभावों की कविता का छन्द हृदय है; आँखों की कविता का छन्द पुतलियाँ हैं। विधाता ने, अपनी प्रत्येक वस्तु, पदार्थ विशेष में छुपाकर रखी है। छन्द के मानी ही, छुपाकर रखने के हैं। यह सत्य है कि काव्य के संकेतों और कला के उन्मेष में, अनुकरण मरण है। परन्तु, हम एक 'मीरा' और उसके 'गिरिधर' की नक़ल करने के बंधन से नहीं छूट सकते। मीरा है प्रकृति, गिरिधर है प्रभु। गिरिधर भाव है, मीरा उसका छंद है। गिरिधर गीत है, मीरा मुरली है। कवि और कविता का यही तो सम्बन्ध होता है। क्षत्रियों के प्रति विद्रोह करनेवाले परशुराम को अपनी तपस्या याद ही न रही; उन्होंने क्षत्रियों का विरोध क्षत्रियों ही का उपकरण लेकर किया; इसीलिए उनकी तेजस्विता ने हार खाई; और एक क्षत्रिय के हाथों उन्हें अपना राज-दंड सौंपना पड़ा। कवि और प्रभु के बीच तो और भी बड़ी टेढ़ है; हम तो प्रभु के खिलाफ़ विद्रोह करते समय लाचार हैं कि प्रभु ही के उपकरणों से काम लें। हाँ, हम यह भले कहते जायें कि ये उपकरण 'प्रभु' नामक किसी 'जानवर' के नहीं, ये प्रकृति के उपकरण हैं, और प्रभु नाम की कोई वस्तु नहीं। ठीक है, पर नाम बदलने के मानी, क्रिया बदलने के तो होते नहीं। मैं तो कविता की बात ही लिख रहा था। हाँ, तो कविता में हम प्रभु और प्रकृति का अनुकरण करने को बाध्य हैं; क्योंकि उनके खिलवाड़, कवि के शब्दों में, नवीन अर्थों का उदय करते रहते हैं।

—(भारतीय आत्मा)

---

# गीत

मेरी आँखों पर प्रकाश की पट्टी बँधी है। माँ! उन पर अब अंधकार का आटोप नहीं पड़ सकता।

मेरे चारों ओर, जहाँ तक दृष्टि जाती है—फूल-ही-फूल खिले हैं। धरती दीखती ही नहीं। मृण्मय कठोर धरती है ही नहीं। यह तो परिमल, कोमलता और लावण्य की राशि है, अनन्त पुष्पराजि है। तनिक देखो तो।

इन तितलियों को तो देखो। क्या ये इन पुष्पों की साड़ियाँ हैं, या इन्होंने पुष्पों को ये रंग वितरित किये हैं। ये ही तितलियाँ मेरे सिर का आभूषण बन रही हैं।

यह प्रभात समीरण पुष्पामोद का संग्रह कर रहा है। मैं पुष्पों का संग्रह क्यों न करूँ।

वह—सुदूर क्षितिज में अरुणाभ सूर्य उदित हो रहा है। उस अनन्त पुष्प-वन के अस्फुट स्निग्ध मर्मर पर आरूढ़ होकर उसका प्रकाश बढ़ रहा है। सुमन रंग में नहा रहे हैं।

बस मैं उसी को ये फूल चढ़ाऊँगा।

लो! वह भी तो एक पुष्प ही—कोटि-कोटि दल का कोकनद—है, और उसके निकट पहुँच कर अपना उपहार देने के पहिले ही मैं उसकी एक पंखरी हो जाता हूँ।

माँ! तुम्हारे कोमल कपोलों में उँगली गड़ा कर मैं जिसका हाल पूछता था, स्वयं वही हो जाता हूँ।

—श्रीरायकृष्ण दास

---

## साधना

अपने पद-पद्म-पराग से मुझे अपने घट को नित्य माँजने दे और उसके मधु-मकरन्द से इसे पूर्णतया भरने दे ; यही एक मात्र प्रार्थना है।

हे नयनरञ्जन नीरद, तू सन्तप्तों को शीतल करने के लिए अपने आपको बरस देता है। यह तन की साधना में तुझसे सीखता हूँ।

हे मानस, तू निरन्तर मोती के समान उज्ज्वल, निर्मल और रम्य तरंगें उठाया करता है, जिनके सुख में मग्न होकर सुवर्ण-सरोज झूमा करते हैं और निरन्तर तुझे मकरन्द दान देते रहते हैं। तू उसे सादर ग्रहण करके फिर उन्हीं के समूल नाल पुष्ट करने में प्रयुक्त करता है। जब समस्त सर पंकिल और राजहंस विकल हो उठते हैं तब उन्हें तेरे सिवा कौन आश्रय दे सकता है ? यह मानसी साधना में तुझसे सीखता हूँ।

हे पादप, फलों के बोझ से तू झुक जाता है और तेरी डालें टूटने-सी लगती हैं। पर तू अपना नियम नहीं छोड़ता। क्योंकि बुभुक्षितों को तृप्त करके उनकी आँखें खोलना तेरा प्रण है। बुद्धि की सफलता भी यही है। और, इसे मैं तुझसे सीखता हूँ।

चातक, तू अपनी ज्वलन्त कामनाओं को सब ओर से एकत्र करके एक स्वाति की बूँद पर लगाता है और तू अपनी धुन का इतना पक्का है कि साल भर उसी की रट लगाये रहता है और उसी एक बूँद से अमृत पान के समान छक जाता है। तेरी उस पर इतनी अनुरागमयी प्रबल कामना है कि तू उसमें मिल कर अपने अहम्भाव का अभाव नहीं कर देता। वरन् केवल इसीलिए आत्मभाव बनाये रखता है कि निरन्तर उसकी आशा और लाभ के आनन्द का सुख लूटा करे। यह अहम्भावमयी कामना की साधना में तुझसे सीखता हूँ।

और मेरी इन सब साधनाओं का उद्देश्य क्या है ? एक मात्र यही कि मैं प्राणेश को सिद्ध कर लूँ।

तेरी सेवा ही में मुझे अकथ, अतुल और अनन्त आनन्द है।

मैं कदापि स्वतन्त्र नहीं होना चाहता। न अपनी सेवा के बदले कुछ चाहता हूँ।

स्वतन्त्रता की निरंकुशता और उच्छृंखलता के दु:खों को मैं जानता हूँ और उनसे बहुत डरता और दूर भागता हूँ।

तेरी सेवा में मुझे जो गर्व तथा आनन्द प्राप्त होता है वही इतना है कि मैं उससे फटा पड़ता हूँ; फिर मुझे बदले की अपेक्षा कहाँ?

अपनी सेवा से मुझे न हटा, न मुझे उसमें भेदभाव करने दे।

—श्रीरायकृष्ण दास

---

## राजरानी सीता

पात्र

| | | |
|---|---|---|
| राजरानी सीता | ... | महाराज राम की पत्नी |
| मन्दोदरी | ... | राजा रावण की पत्नी |
| विचित्रा, सौदामिनी, चित्रा, सुलेखा, त्रिजटा | ... | राजा रावण की दासियाँ |
| हनुमान | ... | महाराजा राम के दूत |
| रावण | ... | लंका का अधिपति |

स्थान—अशोक वाटिका

[ अशोक वृक्ष के नीचे महारानी सीता शोकमग्न-मुद्रा में बैठी हुई हैं। उनके समीप एक दासी, विचित्रा बैठी है। नेपथ्य में शंख और घंटों की ध्वनि हो रही है। आज रावण ने एक बहुत बड़ा महोत्सव भगवान शंकर के मन्दिर में किया है। धीरे-धीरे यह ध्वनि क्षीण होती है और फिर सम्मिलित स्वर में सुनाई पड़ता है:—महादेव शंकर की जय! ... भगवान त्रिपुरारि की जय! ... महाराजाधिराज रावण की जय! ... यह ध्वनि धीरे-धीरे मंद होती हुई वायु में विलीन हो जाती है। ऐसा ज्ञात होता है जैसे जय-ध्वनि करनेवाले मन्दिर से

बाहर ज. रहे हैं। जय-ध्वनि के वायु में विलीन होते-होते महारानी सीता के कण्ठ से एक गहरी सिसकी निकल उठती है।]

विचित्रा—महारानी, आज महादेव शंकर के मंदिर में महाराजाधिराज रावण ने दसवाँ उत्सव मनाया। आप राजाधिराज रावण की जय नहीं बोलीं?

(महारानी सीता फिर सिसकी भरती हैं और सिसकी भरते हुए करुण शब्दों में कहती हैं)

सीता—महा . . .राजाधिराज . . . राम की . . . जय!

विचत्रा—महाराजाधिराज राम की जय! अब भी आपने महाराजाधिराज राम की जय कहना नहीं छोड़ा? आज दस मास बीत गये। आपको पाने के लिए महाराज ने भगवान शंकर के मंदिर में दस उत्सव किये, आपने दस बार क्या, एक बार भी महाराज रावण की जय नहीं कही?

सीता—कपट मृग के पीछे महाराज श्रीराम जिस प्रकार धनुष वाण लेकर दौड़े थे—भौहें कसती हुई थीं, नेत्र कुछ-कुछ लाल हो रहे थे, दृष्टि स्थिर थी, नीचे का होठ दाँतों से दबा हुआ था, मुख पर कुछ पसीने के विन्दु झलक रहे थे—ऐसे श्रीराम की शोभा की—ऐसे श्रीराम की जय! एक बार नहीं—दस बार जय!

विचित्रा—आप जानती हैं इस हठ का क्या परिणाम होगा?

सीता—मैं उस परिणाम के लिए व्याकुल हूँ बहन! यदि शरीर से श्रीराम के दर्शन न कर सकूँ तो प्राण से ही उनके समीप पहुँच सकूँ! महाराज श्रीराम से जाकर कौन कहे कि तुम अभी तक नहीं आये और सीता तुम्हारे विरह में . . . . . .

(सिसक उठती है। तीन दासियों का प्रवेश। इनका नाम क्रमशः सौदामिनी, चित्रा और सुलेखा है।)

सौदामिनी—महारानी, महाराज रावण इधर ही आ रहे हैं। विचित्रा तू बाहर जाकर महाराज का स्वागत कर।

विचित्रा—बहुत अच्छा।

(प्रस्थान)

चित्रा--( महारानी सीता से ) महारानी, आप सिसकियाँ क्यों भर रही हैं? आज तो उत्सव का दिन है। महाराजा रावण ने आज भगवान शंकर की पूजा कर स्वयं वेद-पाठ किया है।

सुलेखा--और पूजा करने के पूर्व महाराज ने आज्ञा की थी कि आज महारानी सीता का शृंगार हो।

सीता--जिसके हृदय में राम हैं, उसके शृंगार की आवश्यकता नहीं है।

सौदामिनी--राम का स्मरण करते हुए आप थकतीं नहीं। आज आप इस नाम को भूल जायँ। इस समय महाराज रावण का नाम सबसे ऊँचा है। ओफ, आज महाराज की कितनी भव्य मूर्ति थी--मस्तक पर त्रिपुंड, भौंहों में कितनी कमनीयता, जैसे यज्ञ के धुएँ की काली रेखाएँ हों! नेत्र यज्ञ के धुएँ से कुछ-कुछ लाल थे। हाथ में चन्द्रहास तलवार थी। क्यों चित्रा?

चित्रा--और जब उन्होंने चन्द्रहास से अपना मस्तक काट कर भगवान शंकर के सामने अर्पण किया तो उनके कटे हुए सिर के मुख पर कितनी मधुर मुस्कान थी!

सुलेखा--और चित्रा, कितने आश्चर्य से हम लोगों ने देखा कि कटे हुए मस्तक के नीचे से दूसरा सिर फिर से महाराज के गले पर सुसज्जित हो गया है, यह प्रताप भगवान शंकर का है। क्यों सौदामिनी?

सौदामिनी--महाराज की भक्ति का नहीं है? वे कितने बड़े भक्त हैं, यह तो सारा संसार जानता है। जब उन्होंने एक बार शंभु सहित सफेद कैलाश पर्वत उठाया तो ऐसा मालूम हुआ जैसे आकाश रूपी नीले सरोवर में महाराज के हाथ रूपी कमल पर हंस शोभायमान हो रहा है। बिना ऊँची भक्ति के भला कोई भक्त भगवान शंभु को कैलाश पर्वत सहित उठा सकता है?

चित्रा--यह तो महाराज का बल है सौदामिनी, महाराज की शक्ति और शूरवीरता तो इतनी अधिक है कि जब उन्होंने अपने हाथ से अपना सिर काट कर अग्नि में होम किया तो ब्रह्मा के लिखे हुए मस्तक के लेख महाराज ने अपने नवीन मुख से पढ़े। उनमें लिखा हुआ था कि तुम्हारी मृत्यु नर के हाथों से होगी। महाराज अट्टहास कर हँस पड़े। कहने लगे--बूढ़े ब्रह्मा की बुद्धि भी भ्रष्ट हो

गई है। जब शक्तिशाली देवता भी मेरे वश मे हैं तो नर की शक्ति ही कितनी कि वह मेरे सामने खड़ा हो सके ?

सौदामिनी—महारानी सीता, ऐसे शक्तिशाली महाराज की बात स्वीकार करने में तुम्हें संकोच है ?

सीता—बड़े से बड़ा जुगनू भी चन्द्रमा की समानता नहीं कर सकता ! ( तीव्र स्वर में ) मैं महाराज राम के अतिरिक्त किसी का नाम नहीं सुनना चाहती।

सुलेखा—महारानी, सावधान ? ऐसा हठ मैंने जीवन में पहली बार देखा। देव-कन्या, यक्ष-कन्या, गन्धर्व-कन्या, नर-कन्या, नाग-कन्या ऐसी कितनी ही सुन्दरियों ने महाराज के बाहु-बल पर मोहित हो कर आत्म-समर्पण कर दिया, किन्तु आपने ......

सीता—( सोचते हुए धीरे-धीरे ) इनमें कोई विदेह-कन्या नहीं रही ?

( नेपथ्य में महाराज रावण की जय का घोष )

सुलेखा—महारानी सीता, महाराज की आज्ञानुसार अ प अपना शृंगार करें। महाराज आने ही वाले हैं।

सीता—क्या महारानी मन्दोदरी के शृंगार से तुम्हारे महाराज रावण को संतोष नहीं हुआ ? अपनी महार नी के शृंगार को छोड़ कर जो दृष्टि पर-नारी के शृंगार की ओर जाती है, वह दृष्टि तुम्हारे महाराज ने आग में होम नहीं की ? ( करुण स्वर में ) बेचारी मन्दोदरी ! ...

( नेपथ्य में फिर महाराजाधिराजा रावण की जय का घोष। रावण के साथ महादेवी मन्दोदरी और दासी त्रिजटा आती हैं। रावण का प्रवेश करते ही अट्टहास )

सौदामिनी—राजाधिराज और महादेवीकी सेवा में प्रणाम स्वीकृत हो।

चित्रा—राजाधिराज और महादेवीकी सेवा में प्रणाम स्वीकृत हो

सुलेखा—राजाधिराज और महादेवीकी सेवा में प्रणाम स्वीकृत हो।

रावण—राजाधिराजकी सेवा में तुम्हारा अनुराग रहे। संव सरों तक तुम राजाधिराज और महादेवीकी सेवा करती रहो। तुम्हारी महारानी सीता का शृंगार हुआ ? ( देखकर ) नहीं हुआ ! सौदामिनी शृंगार यह क्यों नहीं

हुआ ? चित्रा, तुमने महारानी को सुसज्जित क्यों नहीं किया ? सुलेखा, तुमने पुष्पोंकी मालाओं और मोतियों से महारानी के केश क्यों नहीं सजाये ?

सौदामिनी—( नम्रता से ) महारानी की इच्छा नहीं थी।

रावण—( दुहराते हुए ) महारानी की इच्छा नहीं थी। ( सोचकर ) हाँ, महारानी की इच्छा सर्वोपरि है। त्रैलोक्य-सुन्दरी महारानी सीता की इच्छा का आदर होना चाहिए। अच्छा, जाओ। तुम लोग महारानी सीता को प्रणाम कर यहाँ से जाओ।

तीनों—( सम्मिलित स्वर में ) महारानी सीता को प्रणाम।

( सीता कुछ उत्तर नहीं देती, दासियों का प्रस्थान )

रावण—प्रणाम का कुछ उत्तर नहीं दिया महारानी सीता ने ? ( अट्टहास ) ठीक है। कहाँ त्रैलोक्य की शोभा का शृंगार और कहाँ तुच्छ दासियाँ ! प्रणाम का उत्तर भी कैसे हो सकता है ? हाँ, अगर महादेवी मन्दोदरी प्रणाम करें तो संभवतः, उत्तर मिले। ( मन्दोदरी की ओर देख कर ) महादेवी मन्दोदरी !

मन्दोदरी—महारानी सीता को मन्दोदरी का प्रणाम।

सीता—प्रभु राम अनाथों पर कृपा करें।

( रावण मुक्त अट्टहास करता है। )

रावण—यह निष्ठा देखी ? महादेवी मन्दोदरी ! एक तपस्वी के प्रति यह निष्ठा ! संसार में किसी नारी के पास ऐसी निष्ठा नहीं। मैं इसी निष्ठा से प्रभावित हूँ महारानी सीता ! किन्तु यह निष्ठा शृंगार के साथ नहीं है। आज तो शृंगार होना चाहिए था। आज के पुण्य पर्व में देवाधिदेव शंकर स्वयं आये थे। महादेवी मन्दोदरी, तुमने भगवान शंकर की छवि देखी थी ?

मन्दोदरी—मैं तो आपकी और भगवान शंकर की छवि में कुछ देर तक अंतर भी नहीं देख सकी। यदि उनके हाथ में त्रिशूल और आपके हाथ में चन्द्रहास न होता तो दोनों का स्वरूप एक ही था।

( रावण अट्टहास करता है। )

रावण—ठीक है, भक्त और भगवान में एकरूपता तो होनी ही चाहिए। किन्तु आज उनकी मुद्रा कुछ उदास थी। संभवतः इसलिए कि महारानी सीता ने

श्रृंगार नहीं किया। (सीताजी से) महारानी, आपकी मलीनता का क्षोभ देवाधिदेव शंकर को भी होता है। आपको आज श्रृंगार करना चाहिए।

(सीता सिसकियां भरती हैं)

रावण—ये आँसू...! ये आँसू! ये तो आपके सौंदर्य के अनुरूप नहीं हैं, महारानी सीता? और आपके सिर पर केशों की एक ही वेणी, यह मैली साड़ी, ये भूमि पर गड़े हुए नेत्र, यह उदासी? जैसे चन्द्र के साथ अन्धकार हो। क्यों महादेवी? चन्द्र के साथ अन्धकार कैसे निवास करता है?

मन्दोदरी—चन्द्र के साथ नहीं, चन्द्र के भीतर अंधकार निवास करता है, महाराज?

रावण—वह अंधकार नहीं है, महादेवी? वह तो मेरा आतंक है जो चन्द्रमा सदैव अपने हृदय पर लिये फिरता है। संसार के लोग उसे कलंक कहते हैं। किन्तु वह चन्द्र के हृदय में राजाधिराज रावण का भय है; आतंक है। पर इस समय जाने दो इन बातों को। मुझे तो इन नेत्रों से त्रैलोक्य के सौंदर्य को देखना है, महारानी सीता?......

(सीता मौन रहती है)

रावण—आज सौंदर्य में वाणी नहीं है, पुष्प में सुगन्धि नहीं है, चन्द्रमा में किरण नहीं है। मैंने सारे भूमंडल का पर्यटन किया, स्वर्ग के देवताओं को जीता, पातालपुरी के नागों को अधीन किया, किन्तु ऐसा दिव्य सौंदर्य कहीं नहीं देखा? अभी तक मैं समझता था कि मेरी महादेवी ही सौंदर्य की स्वामिनी हैं, किन्तु आज...

मन्दोदरी—महाराज, आप मुझे व्यर्थ आदर दे रहे हैं।

रावण—तब महादेवी, तुम भी यह स्वीकार करती हो कि महारानी सीता तुमसे अधिक सुन्दरी हैं?

मन्दोदरी—मैं इसे स्वीकार करती हूँ, महाराज!

रावण—तब तो महादेवी, तुम्हें महारानी सीता की सेवा करनी चाहिए। (सीताजी से) सुनिए महारानी सीता! यदि आप एक बार भी मुझ पर कृपालु हो जावें तो मैं महादेवी मन्दोदरी से लेकर सभी रानियों को आपकी अनुचरी बना दूँगा। बोलिए, आप महादेवी मन्दोदरी की सेवा स्वीकार करेंगी?

सीता—महादेवी मन्दोदरी, मैं आपसे केवल एक तृण चाहती हूं।

रावण—तृण! केवल तृण? किसलिए? महादेवी इन्हें एक सोने का तृण लाकर दो। महारानी उससे अपनी स्वीकृति लिखेंगी। साथ ही काले पत्थर की एक कसौटी भी। कसौटी पर वह स्वर्ण रेखा जैसे अंधकार पर सूय की किरण के समान होगी। वही महारानी की कृपा की स्वीकृति होगी!

सीता—नहीं महादेवी, मैं केवल भूमि का तृण चाहती हूँ!

रावण—यह किस लिए?

मन्दोदरी—मैं जानती हूँ महाराज, किस लिए। क्या महारानी सीता की इच्छा पूरी की जाय?

रावण—उनकी इच्छा सर्वोपरि है। तृण को वे मेरे सामने रख कर ही बातें करें। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं।

मन्दोदरी—( तृण तोड़ कर देती है ) यह लीजिए।

सीता—( तृण लेते हुए ) धन्यवाद, महादेवी!

रावण—महारानी, मैं अपने प्रस्ताव की स्वीकृति चाहता हूँ। मैं कबसे महादेवी मन्दोदरी को आपकी सेवा में नियोजित कर दूँ?

सीता—एक स्त्री का अपमान करने के बाद दूसरी स्त्री के अपमान करनेका प्रस्ताव! इस मूर्खता के संबंध में क्या कहूँ! क्या वेदों का पाठ करने वाले पंडित के ज्ञान की यह विडंबना नहीं है?

रावण—महारानी सीता! ( तीव्र स्वर से ) महाराज रावण का अपमान करने की शक्ति किसी में नहीं है।

सीता—किस रावण का अपमान? उस रावण का जो प्रभु के दूर चले जाने पर सूने आश्रम से मुझे हरण कर लाया है? उस रावण का, जो संन्यासी का वेश रख कर आया और चोर बन कर गया? उस रावण का, जो भिक्षा माँग कर संसार के समस्त भिक्षुकों को लज्जित कर गया? आज वही रावण अपने अपमान की बात कर रहा! उस रावण ने भिक्षुकों तक का अपमान किया है।

मन्दोदरी—महारानी सीता, शान्त हों!

रावण—महादेवी मन्दोदरी, तुम रावण को शान्त नहीं करतीं? आज पिछले दस महीनों से वह तिल-तिल कर जल रहा है। उसने देवाधिदेव शंकर

के दस महोत्सव किए हैं, दस बार प्रार्थनाएँ की हैं कि महारानी सीता मुझ पर अनुकूल हों, किन्तु न शंकर ने ही स्वीकृति दी और न महारानी सीता ने ही। मैंने दस महीनों से कुबेर की भेंट स्वीकार नहीं की, ब्रह्मा के कंठ से वेद-पाठ नहीं सुना, सूर्य को सभा में नहीं आने दिया, चन्द्रमा की अमृत-वाणी नहीं सुनी, सारे वैभव छोड़ दिए ! एकमात्र इसलिए कि महारानी सीता एक बार कृपापूर्वक मेरी ओर मुख करें ; किन्तु आज तक मैं इस सुख से वंचित रहा। मैं कितना अशान्त हूँ, यह अग्नि की लपटों से पूछो, लंका की सीमा पर गर्जना करते हुए सागर से पूछो ! इसे तुम नहीं जान सकतीं, महादेवी !

मन्दोदरी—जानती हूँ महाराज, किन्तु यदि आपकी इच्छा पर सारे वैभव आपको छोड़ दें, ब्रह्मा, कुबेर, सूर्य और चन्द्र आपके दर्शन का वरदान न पावें, तो इसमें उनका क्या दोष ! दोष तो आपकी इच्छा का है।

रावण—तुम भी सीता से सहानुभूति रखती हो महादेवी ? मेरे प्रताप की ओर से आँख बंद कर सीता को ही निर्भीक और निडर बनाती हो ?

सीता—महाराज राम के बल से कौन निर्भीक और निडर नहीं है ? उनके प्रताप के सामने तुम्हारा प्रताप क्या है ? क्या जुगनुओं का प्रकाश कभी सूर्य के प्रकाश की समानता कर सकता है और उस प्रकाश से क्या कभी कमलिनी खिल सकती है ? ऐसे व्यक्ति का प्रताप .......

रावण—( अट्टहास करते हुए ) मेरा प्रताप ? महारानी सीता ! जिसके पुत्र ने सुरेश्वर इन्द्र को जीत कर इन्द्रजीत का नाम और यश पाया है उसके प्रताप के सम्बन्ध में आपको शंका है ? महादेवी समझाओ सीता को कि मैं क्या हूँ ! त्रैलोक्य में मेरी शक्ति से लड़ने का साहस किसमें हो सकता है ? जिसके हृदय में दंडी, मुंडी और जटाधारी निवास करते हैं उस निर्गुणी ........

सीता—( बीच ही में ) चुप रह दुष्ट ? क्या तुझे लज्जा नहीं आती कि मुझे एकान्त में पाकर हरण करता है और अपनी शक्ति का आडंबर मुझे दिखलाना चाहता है। अन्यायी भी कहीं शक्तिशाली हो सकता है ; पापी कहीं भक्त हो सकता है ; कायर भी कहीं शूरवीर हो सकता है ? जिसने अपनी सारी लज्जा खो दी है वह अपने सम्मान की बात किस मुख से कह सकता है ? जिसके सामने

संन्यासी, चोर, भिक्षुक और कायर में अंतर नहीं है, वह रावण ......वह रावण प्रभु राम से.......

रावण—( बीच ही में चिल्ला कर ) सीता......

सीता—( मन्दोदरी से ) महादेवी ! आज मुझे जीवन के अंतिम क्षण दीख रहे हैं। आप यहाँ से चली जावें तो अच्छा है।

मन्दोदरी—( रावण से ) महाराज ? नारी पर बल-प्रयोग करना अन्याय है।

रावण—महादेवी, मैं तुमसे नीति की शिक्षा नहीं ले रहा हूँ। रावण भगवान शंकर को छोड़कर किसी को अपना गुरु नहीं मानता। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम यहाँ से जा सकती हो।

मन्दोदरी—मैं महाराज को अन्याय करने से रोकूंगी।

रावण—( तीव्रता से ) मुझे न्याय या अन्याय करने से कौन रोक सकता है ?

सीता—भगवान रामके बाण ! जब वे तेरे सिरों को काट कर भगवान के निषंग में प्रवेश करेंगे तो महात्मा लक्ष्मण उनसे पूछेंगे कि अन्यायी के रक्त का स्वाद कैसा है, तब वे बाण.....

रावण—( बीच ही में क्रोध से ) बाण नहीं, यह कृपाण ? देखो, यह चन्द्रहास ( तलवार निकालता है ) मेरे अपमान करने वाले के शरीर में यही चन्द्रहास एक क्षण में चमक कर मेरे सम्मान का आदर्श त्रैलोक्य में स्थापित करता है ? यह चन्द्रहास ? देखती हो ? इसने कितने अपराधियों के सिर काट कर सारे ब्रह्मांड में बिखरा दिए हैं। सिरों की तरह असंख्य तारों को बिखरा कर दूज का चन्द्र चन्द्रहास का अभिनय करता है। देखो, इस तारों भरी रात को और इस चन्द्रहास को। मेरी भौंह के संकेत पर न चलनेवाले को चन्द्रहास की धार पर चलना पड़ता है।

सीता—( गहरी साँस लेकर ) चन्द्रहास ? श्याम कमलों की माला के चन्द्रहास ! चन्द्र का शीतल हास प्रभु के विरह में उठी हुई ज्वाला को तू क्यों नहीं शान्त कर देता ? तेरी धार कितनी शीतल है, कितनी तीक्ष्ण है ? मेरे इस दुःख को दूर कर दे। तू अभी तक मृत्यु का दूत रहा है, मेरे लिए जीवन का देवदूत बन जा ?

रावण—( चिल्ला कर ) तब तैयार हो! चन्द्रहास! तुझे भी ऐसा शरीर न मिला होगा। तैयार हो। वायु को काटता हुआ आकाश में चन्द्रमा की तरह उठ जा और उल्कापात की तरह इस शरीर पर गिर......

मन्दोदरी—( बीच में उठ कर और विह्वल होकर ) महाराज, महाराज, यह नहीं हो सकता! पुरुष नारी का इस प्रकार वध करे? यह नहीं हो सकता! यह अन्याय है! यह नहीं हो सकता! पहले मेरा वध कीजिए... मेरा वध... मेरा वध...

सीता—( दुःख से ) महादेवी, यह क्या?...

मन्दोदरी—( शीघ्रता से ) नहीं, नहीं, सीता! ( रावण से ) महाराज, पहले मेरा वध कीजिए। यह अन्याय मैं अपने सामने नहीं होने दूँगी। मैं आपको पाप में नहीं पड़ने दूँगी।

रावण—( जोर से सांस लेता हुआ स्वगत ) अरे, यह क्या? शंकर की भी स्वीकृति नहीं! मेरा त्रिपुंड गीला हो गया! उस त्रिपुंड पर भगवान शंकर के आँसू गिर पड़े! प्रभु... प्रभु... मेरे शत्रु पर तुम्हारी इतनी करुणा क्यों? तुम्हारी इतनी अनुकंपा क्यों? तुम कैसे मेरे भगवान हो! भक्त की इच्छा के प्रतिकूल! तुम्हारी तो कभी ऐसी बान नहीं थी? ... प्रभु शंकर! मुझे बल दो कि मैं लड़ सकूँ! चन्द्रहास से न सही तो अपनी नीति से ही लड़ सकूँ! जिस प्रकार तुम मेरे सभी कार्यों में सहायक हो उस प्रकार इस कार्य में क्यों नहीं होते? लेकिन मैं लड़ूंगा। ( प्रकट ) महादेवी मन्दोदरी, तुम्हारे कहने से मैं इस मास भी सीता को छोड़ता हूँ। एक मास क्षमा की अवधि और रहेगी। मैं ग्यारहवाँ महोत्सव मनाऊँगा। ग्यारहों रुद्र उसके साक्षी होंगे और यदि उस उत्सव पर सीता ने मेरा कहना नहीं माना तो फिर यही चन्द्रहास! ...यही चन्द्रहास होगा और उसके सामने होगी सीता... सीता... यही सीता जो मेरे आराध्यदेव द्वारा भी बचाई जा रही है। कहाँ हो शंकर? आज तुम्हारा भक्त अपमानित हो गया। ( शीघ्रता से बाहर जाता है। बाहर जाते-जाते शब्द धीमे होते जाते हैं। ) इस अपमान का बदला......महाराजाधिराज रावण के अपमान... का...बदला......

मन्दोदरी—मैं भी जा रही हूँ महारानी सीता! पतिदेव रुष्ट हो गए। यह त्रिजटा दासी तुम्हारे समीप रहेगी।

[ मन्दोदरी जाती है और सीता फिर एक बार सिसकी भरती हैं। ]

सीता—( चिंतित स्वरों में ) एक मास और . . . ग्यारहवाँ उत्सव . . . ग्यारह रुद्रों की साक्षी . . . क्यों नहीं आज ही उस दुष्ट ने मुझे इस विरह दुःख से मुक्त कर दिया? एक मास और . . . कैसे सहूँ! प्रभु के विरह में एक एक दिन युग के समान बीत रहा है। उस पर अभी एक मास की लंबी अवधि और है। ( सिसकी लेकर ) प्रभु, अब मैं जीवित नहीं रहूँगी। मैं जीवित नहीं रहना चाहती। तुम्हारी होकर तुमसे इतनी दूर हूँ, एक एक क्षण मुझे चन्द्रहास की धार से भी अधिक तीक्ष्ण ज्ञात होता है। हाय मेरा जीवन नष्ट क्यों नहीं हो जाता? मेरे ही कारण मेरे प्रभु को व्यंग सुनने पड़ते हैं। संसार देख रहा है कि मैं प्रभु की हूँ और प्रभु अभी तक नहीं आए। मैं कितनी अभागिनी . . . . . .

( सिसकियाँ )

त्रिजटा—महारानी, आप दुःख न करें। आपकी सेवा के लिए मैं तैयार हूँ। मैं त्रिजटा हूँ। आपकी आज्ञाकारिणी सेविका—

सीता—( विह्वल होकर ) त्रिजटा, तुम मेरी सेवा करोगी तो यही सेवा करो कि लकड़ियाँ लाकर मेरे लिए चिता बना दो और उसमें आग लगा दो। अब प्रभु राम का यह विरह मुझे सहन नहीं होता। राम के विरह की ज्वाला से चिता की ज्वाला शीतल होगी। मैं कहाँ तक दुष्ट रावण के दुर्वचन सुनूँ! मैं प्रभु राम के शत्रु को . . . अपनी आँखों के सामने कैसे देखूँ! मेरे प्रेम को सार्थक करो और मुझे चिता में जल जाने दो। मैं अपने हृदय की वेदना कैसे कहूँ?

त्रिजटा—महारानी, आप इतनी दुखी क्यों होती हैं? प्रभु राम आपका उद्धार अवश्य करेंगे।

सीता—( चौंक कर ) क्या कहा? फिर से कहो, देवी, फिर से कहो—प्रभु राम . . . प्रभु राम!

त्रिजटा—हाँ, हाँ, प्रभु राम आपका उद्धार अवश्य करेंगे। आपने ही तो कहा था कि प्रभु राम के बाण . . . . . .

सीता—( विह्वल होकर ) हाँ, कहती जाओ, देवी, कहती जाओ . . मैं प्रभु की बात सुनना चाहती हूँ।

त्रिजटा—यही तो आपने कहा था कि भगवान राम के बाण जब रावण के सिरों को काट कर भगवान के निषंग में प्रवेश करेंगे तो महात्मा लक्ष्मण उनसे पूछेंगे कि अन्यायी के रक्त का स्वाद कैसा है ?

सीता—किन्तु यह कब होगा, देवी त्रिजटा ?

त्रिजटा—भगवान राम की कृपा होने में विलंब नहीं लगता।

सीता—सच है देवी, किन्तु यदि एक मास से अधिक विलंब हुआ तो दुष्ट रावण मुझे मार डालेगा और मैं प्रभु के दर्शन भी न कर पाऊँगी, इससे अच्छा तो यही है कि तुम मुझे अभी ही चिता में जल जाने दो।

त्रिजटा—यह संभव नहीं है महारानी, फिर रात आधी से अधिक व्यतीत हो गई है। अब किसके घर आग मिलेगी ? सभी लोग भोजन कर सो रहे होंगे।

सीता—( आह भर कर ) आह, यह भी संभव नहीं। फिर सहूँ प्रति दिन की तीक्ष्ण बातें, रात दिन, दिन रात।

त्रिजटा—देवी सीता, आप धैर्य रक्खें ! मैंने एक स्वप्न देखा है कि आपका उद्धार होगा !

सीता—देवी, आपके वचनों से मुझे धैर्य मिलता है, क्योंकि आप भी प्रभु राम के चरणों में प्रेम रखती हैं।

त्रिजटा—मैं किस योग्य हूँ महारानी, कि प्रभु राम के चरणों में प्रेम कर सकूँ ! यदि मेरे सिर की जटाओं में आजन्म राम नाम की—नाम के अक्षरों की रा और म—रेखाएँ बनी रहें, तो इससे बड़ा सौभाग्य मेरा क्या होगा ?

सीता—मेरी विपत्ति की सहायिका देवी, तुम धन्य हो !

त्रिजटा—धन्य तो मैं तब होऊँगी जब महारानी, आपका उद्धार हो जायगा और मुझे विश्वास है कि दुर्भाग्य के बादल प्रभु की कृपा की किरणों को नहीं रोक सकते।

सीता—तुम्हारा विश्वास अमर रहे !

त्रिजटा—अच्छा महारानी, अब आप विश्राम कीजिए। रात थोड़ी ही रह गई है। अब मैं जाऊँगी। आप सो जाइए।

सीता—मैं क्या सोऊँगी ! मेरी शैया पर तो दुर्भाग्य ने काँटे बिछा दिए हैं, किन्तु तुम जाओ, तुम सोओ।

त्रिजटा—प्रणाम करती हूँ, महारानी।

सीता—प्रभु राम अनाथों पर कृपा करें।

( त्रिजटा का प्रस्थान )

सीता—( गहरी साँस लेकर ) यह सहायिका भी चली गई ! विधाता मेरे कितना प्रतिकूल है। माँगने से आग भी नहीं मिलती, जिससे मैं चिता में जल जाऊँ ! मेरे हृदय की आग ही बाहर निकल आए तो मैं अपने को धन्य समझूँ। मैं अपना शरीर जलाना चाहती हूँ, किन्तु मन ही जल कर रह जाता है। ( कुछ देर ठहर कर ) रात आधी से अधिक बीत चुकी है ! सब लोग सो रहे हैं। साँसों के आने-जाने का शब्द सुनाई पड़ रहा है।...मैं क्या करूँ ! भगवान राम न जाने कहाँ होंगे। किस वृक्ष के नीचे बैठ कर मेरे विरह में दुखी होते होंगे ! कंचनमृग का चर्म लाने का आग्रह करने से पहले मैंने उन्हें माला गूँथ कर पहनायी थी। वह इस समय भी उनके गले में पड़ी होगी, उसके फूल मेरी ही तरह मुरझा गए होंगे, किन्तु फूल मुझसे अधिक भाग्यशाली हैं, क्योंकि मुरझाने पर भी वे प्रभु राम के हृदय से लगे हुए हैं और मैं यहाँ मुरझाई हुई दुष्ट रावण की अशोकवाटिका में हूँ। ( सिसकी भरती है ) प्रभु राम मुझे क्षमा करो ! मैंने कञ्चनमृग का चर्म ही क्यों माँगा ? तुमने मृग की ओर देख कर अपना परिकर बाँधा, हाथ में धनुष सँभाल कर तीक्ष्ण बाण की नोक को गहरी दृष्टि से परखा। बाण की ओर देखते हुए तुमने लक्ष्मण को रक्षा का भार सौंपा और तीव्र गति से कञ्चनमृग के पीछे दौड़ पड़े......संसार जिनके पीछे दौड़ता है, वे मेरे प्रभु कंचनमृग के पीछे दौड़े...मेरे कारण...ओह प्रभु ! तुम कैसे हो और मैं कैसी हूँ ! आज मेरा कष्ट कञ्चनमृग बन जाता और तुम उसके पीछे दौड़ते ! यह कष्ट मैं कैसे सहूँ ? लक्ष्मण, तुम्हारा कुछ दोष नहीं। तुम कुटी से चले गए। मुझे क्षमा करो। प्रभु को समझा दो कि सारा दोष सीता का है। इसीलिए आज मेरे समीप कोई नही है। ( पेड़ के पत्तों के हिलने का शब्द ) वायु बह कर निकल जाती है, एक क्षण रुक कर मेरा संदेसा प्रभु के पास नही ले जाती। आकाश में

इतने अंगारे फैले हुए हैं, इनमें से कोई भी तो नीचे गिर जाता ! यह चन्द्रमा भी ज्वालाओं से जल रहा है। वह एक लपट नीचे की ओर फेंक दे तो मैं उस आग में जल जाऊँ ! क्या मैं इतनी अभागिनी हूँ कि चन्द्रमा की एक लपट भी पाने की अधिकारिणी नहीं ? वृक्ष अशोक, तुम्हीं मुझ पर दया करो। अपने नाम को सार्थक करते हुए मुझे अशोक बना दो। मेरा शोक दूर कर दो। तुम्हारे नये नये पत्ते आग की तरह लाल हैं। इन्हीं से अग्निकण बरसा कर शरीर का अन्त कर दो। प्रभु राम ! तुम्हारे विरह में जल कर भी आज मैं जीवित हूँ ! मेरे जीवन को . . . धिक्कार . . . है . . .

[ सिसकती हैं, इसी समयश्री हनुमान जी अशोक वृक्ष से श्रीराम की मुद्रिका नीचे गिरा देते हैं। मुद्रिका के गिरने का शब्द होता है। ]

सीता—( चौंक कर ) यह कैसा शब्द ? क्या आकाश से कोई तारा गिरा, या अशोक वृक्ष ने मेरे जलने के लिए अंगार डाल दिया है . . . . . ? ( देख कर ) वैसी ही तो कुछ चमक है। देखूँ, ( सीताजी उठ कर मुद्रिका उठाती हैं ) यह क्या ? यह तो मुद्रिका है ! यह मुद्रिका किसकी है . . . ? अरे, इस पर तो राम-नाम अंकित है ! ओह, यह मुद्रिका तो प्रभु राम की है . . . ! किन्तु यह यहाँ कैसे ? यह यहाँ कैसे आई ? इसे कौन लाया ? यह तो श्रीराम के हाथों में मैंने पहनाई थी। उनसे कभी एक क्षण दूर नहीं हुई। फिर यह मुद्रिका यहाँ कैसे . . . ? प्रभु राम, तुम कहाँ हो ? किसी शत्रु ने तो . . .नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता, यह नहीं हो सकता। भगवान् राम को कौन जीत सकता है ? वे तो अजेय हैं, फिर यह मुद्रिका . . . . . .मुझे छलने के लिए किसी ने माया से तो इसे नहीं बना दी ? किन्तु माया से, त्रिभुवन की माया से यह बनाई भी कैसे जा सकती है ? नहीं, नहीं, यह मुद्रिका उन्हीं की है। मेरे प्रभु राम की है। मुद्रिके बोल, तू यहाँ कैसे आई ? श्रीराम और लक्ष्मण कुशलपूर्वक तो हैं ? तूने राम को कैसे छोड़ दिया ? ओह, मेरे राम को सब छोड़ देते हैं ! नगर से चलते समय नगर-लक्ष्मी ने उन्हें छोड़ दिया, वन के बीच में मैंने उन्हें छोड़ दिया और अब मेरी दिशा के मार्ग में तूने उन्हें छोड़ दिया ! अब आज से नारियों पर कौन विश्वास करेगा ? मेरे राम की मुद्रिका . . . . .

[ श्री सीताजी सिसकियाँ लेती हैं, इतने में अशोक वृक्ष पर से श्री हनुमान के शब्द ]

हनुमान—रघुकुल-मणि रामचन्द्र, दशरथ-सुत रामचन्द्र, सीतापति रामचन्द्र, वानर-प्रिय रामचन्द्र।

सीता—( आश्चर्य से चौंक कर ) यह कौन ?

हनुमान—श्री रामचन्द्र के चरण स्पर्श से अहल्या पवित्र हो गई, श्रीरामचन्द्र के हाथों से शिव-धनुष तिनके के समान टूट गया, श्रीरामचन्द्र की कृपा से चित्रकूट भी साकेत बन गया, श्रीरामचन्द्र की शक्ति से खरदूषण का विनाश हुआ, श्रीरामचन्द्र की भक्त-वत्सलता से जटायु ने परम गति प्राप्त की, श्रीरामचन्द्र के अनुग्रह से सुग्रीव ने अपना खोया हुआ राज्य प्राप्त किया और श्रीरामचन्द्र की कृपा से मुझे उनके चरणों की भक्ति ....!

( कंठ गद्‌गद् हो जाता है। )

सीता—जिसने मेरे कानों में इस अमृत-वाणी की वर्षा की है वह मेरे सामने प्रकट हो।

[ अशोक वृक्ष से कूदकर श्री हनुमान श्री सीताजी के सामने आतेहैं और प्रणाम करते हैं, श्री सीताजी आश्चर्य-चकित हो मुख फेर कर बैठ जाती हैं। ]

हनुमान—मातुश्री सीता ! मेरे सादर प्रणाम स्वीकार हों। मैं करुणा-निधान श्रीराम की शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं श्रीराम का दूत हनुमान हूँ। आप मुझसे मुख फेर कर न बैठें। मैं पुत्र की भाँति आपके दर्शन करना चाहता हूँ, मैं ही यह मुद्रिका लाया हूँ। प्रभु राम ने मुझे आपकी सेवा में भेजा है, आप मुझे श्रीराम-दूत मान लें, इसीलिए उन्होंने मुझे यह मुद्रिका देने की कृपा की।

हनुमान—मातुश्री ! दुष्ट रावण ने जब आपका हरण किया तो आपने अपने कुछ वस्त्र और आभूषण नीचे फेंक दिए थे। वे वानरराज सुग्रीव को प्राप्त हुए। मैं वानरराज सुग्रीव का सहायक हूँ। जब लक्ष्मण सहित श्रीराम आपको खोजते हुए उस स्थान पर आए तो दोनों में मित्रता हुई। सुग्रीव की रक्षा के लिए श्रीराम ने उसके भाई, बालि, का वध किया, फिर सुग्रीव की सहायता से श्रीराम ने आपकी खोज में असंख्य वानर भेजे। मैं राम-दूत हनुमान हूँ, मातुश्री।

सीता—तुम्हारे वचनों पर मुझे विश्वास होता है। तुम मन, वचन और कर्म से प्रभु राम के दास हो। कहो, मेरे प्रभु राम, कैसे हैं और वीर लक्ष्मण कैसे हैं? मेरे प्रभु तो इतने कोमल हृदय वाले हैं, करुणासिंधु हैं, उन्होंने कैसे इतनी निष्ठुरता की कि अभी तक नहीं आए? क्या कभी वे मेरा स्मरण करते हैं? उन्होंने मुझे बिलकुल ही भुला दिया? हाय, उन्होंने मुझे बिलकुल ही भुला दिया!

हनुमान—नहीं मातुश्री, वे आपको कभी नहीं भूल सके, वे तो आपका सदैव स्मरण करते हैं। वे सब तरह से कुशल हैं, यदि उन्हें दुःख है तो केवल आपका ही दुःख है। वीर लक्ष्मण भी सकुशल हैं। आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें। आपके प्रति प्रभु राम के हृदय में जो प्रेम है उसकी थाह नहीं ली जा सकती?

सीता—क्या कभी मेरे नेत्र उनके सुंदर श्याम शरीर को देख कर शीतल होंगे? ओह मैं कितनी अभागिनी हूँ?

हनुमान—मातुश्री, प्रभु राम जिनका स्मरण करते हैं, उनके लिए अभाग्य कैसा? दुष्ट रावण का सिर काटने के लिए श्रीराम के तरकश में बाण कसकने लगे हैं। श्रीराम ने इस दशा में प्रस्थान कर दिया है। शीघ्र ही यह दुःख का अंधकार दूर होगा। प्रभु राम की कृपा का सूर्य उदय हो चला है, आप कुछ दिन और धैर्य धारण करें, कपि-सेना के साथ श्रीराम यहाँ आवेंगे और रावण को मार कर आपका उद्धार करेंगे।

सीता—( आनन्द विह्वल होकर ) श्रीराम मेरा उद्धार करेंगे। मेरा उद्धार करेंगे? ओह, आज मैं कितनी सुखी हूँ। प्रभु राम, आज मैं तुम्हारे आने के समाचार से कितनी सुखी हूँ?

[ उसी समय प्रभात का मङ्गल वाद्य और समय की सूचना बजती है। ]

सीता—( प्रसन्नता से ) प्रभात की इस मंगल वेला में, प्रभात की इस मंगल ध्वनि में, मेरी मंगल कामना सफल हो . . .? मेरे प्रभु राम की जय हो?

( मङ्गल वाद्य बजते-बजते वायु में लीन हो जाता है। )

( पर्दा )

—श्रीरामकुमार वर्मा

26-3-53

———